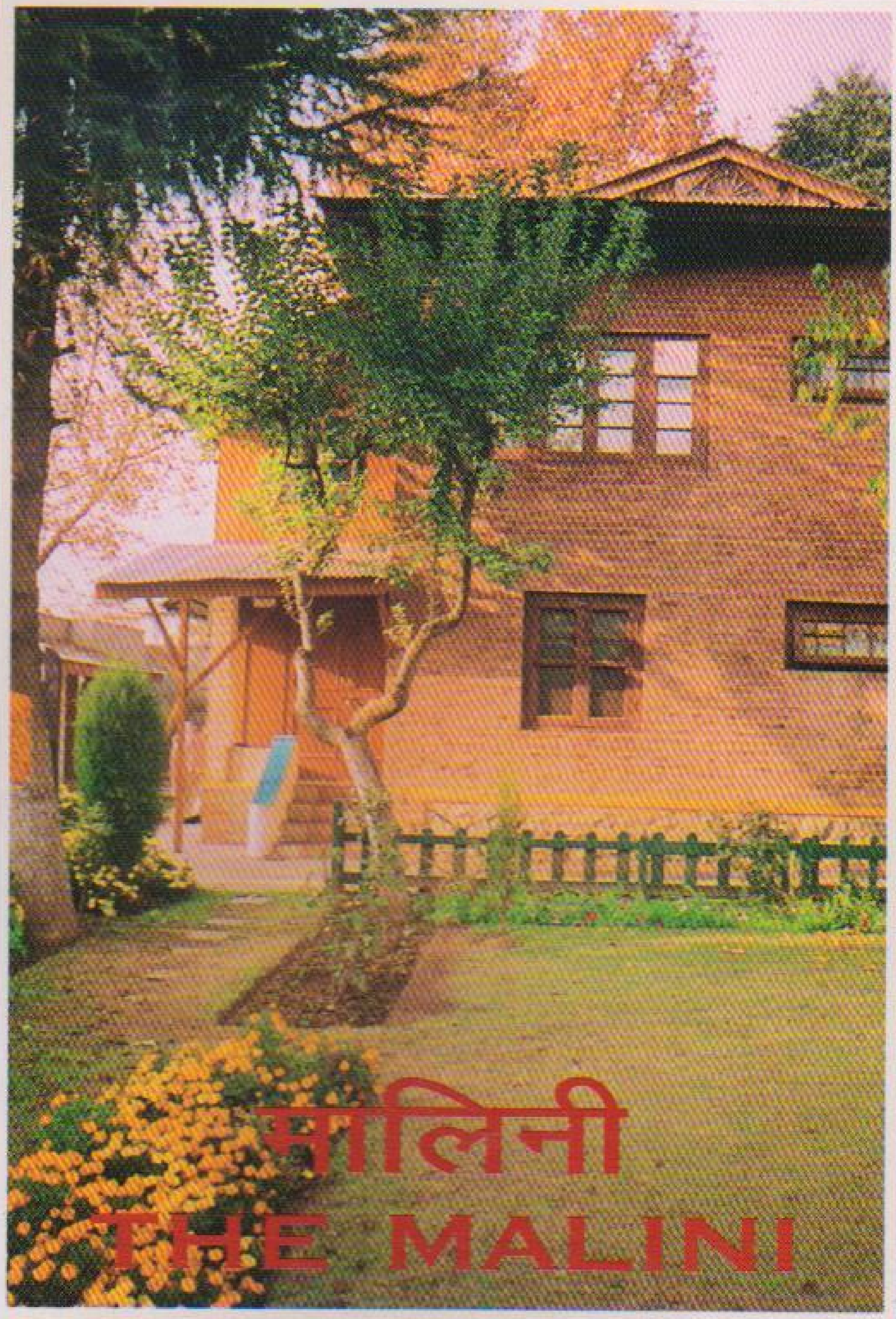
JULY, 1998

ह्रीं



मालिनी
THE MALINI

ISHWAR ASHRAM TRUST

ISHBER (NISHAT), SRINAGAR, KASHMIR

Vol. IV NO. 2 ISSUE XIII
JULY, 1998

मालिनी
THE MALINI

Abhinavagupta about Mālinī

यन्मयतयेदमखिलं, परमोपादेयभावमभ्येति।
भवभेदास्त्रं शास्त्रं, जयति श्रीमालिनी देवी॥

Śrī Mālinī Devī is ever victorious. In union with her all the treatises of non-dualistic order achieve the nature of divine potency.

T.A.A. XXXVII

ISHWAR ASHRAM TRUST
ISHBER (NISHAT), SRINAGAR, KASHMIR

Administrative Office—
2-Mahinder Nagar, Jammu

Publishers :
Ishwar Ashram Trust
Ishber (Nishat), Srinagar
Kashmir.

Administrative Office :
2-Mohinder Nagar
Canal Road
Jammu Tawi - 180 002.
Tel. : 555755

Branch Office :
Ishwar Ashram Trust
Delhi Chapter
F-115, Sarita Vihar, New Delhi - 110 044
Tel. : 6943307

July, 1998
Price : Rs. 15.00

Produced on behalf of Ishwar Ashram Trust
by Paramount Printographics, Daryaganj, New Delhi-2. Tel 328-1568, 327-1568

ॐ नमः परमसंविद् चिद्वपुषे

विषय सूची : Contents

संपादक की लेखनी से

श्री गुरुपूर्णिमा के महोत्सव पर मालिनी का प्रस्तुत अंक सद्गुरु महाराज के चरण कमलों पर समर्पित करते हुए हमें असीम प्रसन्नता हो रही है। आज के दिन हमें अपने 'स्व' को सद्गुरु महाराज के चरणों में अर्पण करना होगा और अजस्त्र प्रवाहमान निर्झर की तरह आध्यात्मिकमार्ग में आने वाली सारी बाधाओं को एक ओर कर के अबाध गति से आगे चलना होगा। सागर जैसे सीमा हीन और अगाध सद्गुरु प्रेम में विलीन होकर अपने आपको मिटाने की क्रिया करनी होगी। जीवन की अनन्तता, श्रेष्ठता, अद्वितीयता और वास्तविकता को प्राप्त करने में सक्षम होना होगा। शास्त्रों में कहा है कि सहजप्रेमसाधना सद्गुरु चरणों से ही आरम्भ होती है। अश्रुजल से उन चरण कमलों को धो-धो कर जन्म जन्मातरों से संचित वासना जन्य कालिमा को, उस पादोदक से सदा के लिए निर्मल करना होगा। प्रकाश विमर्शमय इन चरणों की अर्चना ही वास्तविक अर्चना है जिसका संकेत इन शब्दों में किया गया है कि -

पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढ़ा।
निर्विकल्पे परे व्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः॥ *(विज्ञानभैरव)*

और इसी वास्तविक अर्चना के परिणामस्वरूप हर पल उनके पास ठहरने की व्यग्रता क्षणक्षण बड़ती है और प्रेमामृत रस का पान कर हम प्रेममय बन सकते हैं। इदन्ता और अहन्ता में ऐक्य की प्रतिपत्ति से भैरव स्वरूप का साक्षात्कार कर सकते हैं और स्वरूपप्रथनरूप मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं। 'किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या' इस कथन के अनुरूप सद्गुरु चरणों का अकृत्रिम प्रेम हृदय में सुदृढ़कर हम क्या प्राप्त नहीं कर सकते हैं क्योकि सद्गुरु चरण इस संसार में चरण मात्र ही नहीं हैं वे साक्षात् प्रेम स्वरूप हैं और प्रेम करने वालों को संविन्मय बनाने का सामर्थ्य रखते हैं। वास्तव में सद्गुरु चरणों का प्रेम ही ईश्वर की सत्ता है, पृथिवी तत्त्व से शिव तत्त्व तक इसी का प्रकाश है। यदि यह न होता तो सृष्टि की स्थिति भी असंभव होती। इस प्रेम वीणा की झंकार के झंकृत होने के विना स्वरूपलाभ प्राप्ति तो दूर साधना की सिद्धि भी बुद्धिगम्य नहीं होती। संक्षेप में सद्गुरु चरणों का प्रेम वह प्रकाश है जिस की किरणें तन मन को अपूर्व रूप से सुगन्धित करने वाले सुरम्य वातावरण को जन्म देती है। वह ताल है जो विभोर कर देता है, वह फाल्गुणी गुलाल है जो अनन्य रंग में रंगता है, वह सावनभादों है जो बरस बरसकर अन्तस को भिगोने लगता है, वह यज्ञज्वाला है जिसका यज्ञकुण्ड जीवन है आहुति 'अहं' है और

प्राणाचार तथा अपानाचार "स्त्रुक स्त्रुवा" हैं, वह नदी है जो इठलाती हुई किनारों को तोड़कर सागर से मिलने को आतुर बनकर अपनी सत्ता खो देती है। आहये! आज की इस व्यासपूर्णिमा पर हम सभी इन सद्गुरु चरणों में अपने 'अहं' को समाप्त कर पूर्णता को प्राप्त कर लें।

जय गुरुदेव।

गतांक में हमने इस बात का उल्लेख किया था कि दिल्ली स्थित ईश्वर आश्रम ट्रस्ट कश्मीर को दिल्ली राज्य सरकार की ओर से लगभग एक कनाल भूमि दक्षिण दिल्ली में मिलने की संभावना है पर इस कार्य में प्रगति इसलिए मन्द हुई कि सरकार ने भूमि वितरण के दरों में आशातीत बढ़ोत्तरी की जिससे हमें ग्यारह लाख रुपयों के स्थान पर अब लगभग बीस लाख रुपये देना अनिवार्य हो गया है। हमें आशा है कि सद्गुरु महाराज की कृपा और उनके आशीर्वाद से इस शुभ कार्य में हमें अवश्य सफलता मिलेगी और शीघ्रही यह भूमि ईश्वर आश्रम ट्रस्ट कश्मीर के नाम पर पंजीकृत हो जायेगी। सभी भक्त जनों साधकों और शिष्य वर्ग की सहायता के परिणाम स्वरूप हमारा 'ईश्वर आश्रम ट्रस्ट कश्मीर' फले फूले यही हमारी मनोकामना है।

अप्रेल १९९८ के अंक में स्वनामधन्य 'स्वामी रामजी' पर एक लेख छपा था। इस लेख के लेखक श्री एस. के. माम हैं। यह लेख सन् १९९७ में जम्मू के दैनिक अंग्रेजी पत्र "एक्सलशेयर" में छपा था। ट्रस्ट के जम्मू प्रशासनिक कार्यालय ने लगभग एक साल तक इस लेख की प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा की। पर दुर्भाग्यवश किसी भी महानुभाव ने इस प्रकाशित लेख के तथ्यों को अनैतिहासिक या असंगत या असमीचीन नहीं ठहराया अपितु श्री माम की प्रशंसा की। हमारे सद्गुरु महाराज से सम्बद्ध समीपस्थित सज्जनों ने भी इस लेख की यथार्थता को नहीं ललकारा। अब हमारे पूज्य विद्वानों और पाठकों ने इस लेख के विषय में जो असंगतियां भांपी उन्हें मूलरूप में ही इस अंक में प्रकाशित करके हम पाठकों को सही ज्ञान कराने में पीछे नहीं बैठे।

मैं आदरणीय गुरुवर्य डा० बलज्जिन्नाथ जी पण्डित का कृतज्ञ हूँ जिन्होंने उक्त लेख के विषय में एक ज्ञानवर्धक विवरण भेजकर मेरे साथ-साथ मालिनी के समस्त पाठक वृन्द को लाभान्वित किया। हम उनके परम आभारी हैं और आशा रखते है कि आगे भी वे इसी प्रकार से हमारा मार्ग निदर्शन करेंगे।

मालिनी के आदरणीय पाठकों को यदि उक्त लेख के कुछेकभ्रान्त तथ्यों से ठेस पहुंची हो तो मैं उन सब का क्षमाप्रार्थी हूँ।

अभी-अभी विश्वस्त सूत्रों से मुझे विदित हुआ कि स्वामी जी महाराज की माननीया भगिनी श्रीमती लच्छाद्दर ने आलोच्य लेख के तथ्यों पर अतीव आश्चर्य प्रकट कर के इस लेख की यथार्थता पर कुछ प्रश्नचिह्न लगाये। यह सुनकर हमें अतीव प्रसन्नता हुई। समय पर उस विवरण के न मिलने पर, अगले अंक में उस लेख के प्रकाशित होने की पूरी संभावना है। मुझे आशा है कि उस विवरण के छपने के पश्चात् उक्त लेख से सम्बद्ध उठे सारे विवाद शान्त होंगें और भ्रान्त धारणाओं का अन्त होगा।

आदरणीय श्री जानकीनाथ कौल 'कमल' की निर्वाण प्राप्ति के पश्चात् सद्गुरु नामावली का अंगेजी अनुवाद जो तीस नामों तक प्रकाशित हुआ था, मालिनी के बाद के अंकों में प्रकाशित न हो सका। हम आदरणीय संवित्प्रकाश दर के कृतज्ञ हैं कि उन्होंने अपनी समावेशावस्था में सारी नामावली का एकसाथ अंगेजी भाषा में सरल व बुद्धिगम्य अनुवाद करके सारे इच्छुक पाठकों पर महान् उपकार किया। पर देर से अनुवाद की प्रति पहुँचने पर इस अंक में हम स्थानाभाव के कारण प्रकाशित ना कर सके आशा है कि अगले अंक में उसे प्रकाशित किया जाएगा।

सारे ईश्वरआश्रम परिवार को गुरु पूर्णिमा पर आध्यात्मिक उन्नति की शुभकामनायें।

जय गुरुदेव

गुरुपूर्णिमा

९ जुलाई बुधवार १९९८ — *प्रो० मखनलाल कुकिलू*

SIVA SŪTRAS

With Vimarśinī Sanskrit Commentary of Śrikṣemarāja

V

Translated by
Iśvara Svarūpa Svāmī Lakṣmaṇa Joo Māharāj

(Continued from last issue)

किम् ईदृगाणवमलात्मैव बन्धः? न इत्याह–

योनिवर्गः कलाशरीरम्॥ ३॥

बन्ध इत्यनुवर्तते

किम्–is, ईदृग्–this type of, आणवमल–(āṇavamala) as described, आत्मैव–the only cause of, बन्धः–bondage? न–no, इत्याह–says the next sūtra:-

योनिवर्गः–differentiated knowledge, i.e. मायीयमल (māyīya-mala), This is mine and this is not mine, this is beautiful this is not, this kind of knowledge is bondage. योनि–the source or the cause of the universe, i.e. माया (māyā) वर्गः–class of तत्त्व (tattvas) elements to which माया gives rise. कलाशरीरम्– कला–the embodiment of action. This is done, this is not to be done, this is half done, and this is well done. शरीरं–form, So कलाशरीरं means कार्ममल (Kārma-mala) while योनिवर्गः means मायीयमल (māyiyamala) बन्ध इत्यनुवर्तते–the word बन्धः–bondage, इत्यनुवर्तते–follows from the last Sūtras. So the Sūtra means that मायीयमल (māyīya mala) and कार्ममल (Kārma mala) are also the source of bondage.

योऽयं योनेः–विश्वकारणस्य मायायाः सम्बन्धी, वर्गः–साक्षात् पारम्पर्येण च, तत् हेतुको देहभुवनाद्यारम्भी किञ्चित्कर्तृताद्यात्मक कलादि क्षित्यन्त तत्त्वसमूह, तद्रूपं मायीयं, तथा कलाशरीरं–कला–कलयति स्वस्वरूपावेशेन तत् तत् वस्तु परिच्छिनत्ति इति कला–व्यापारः; शरीरं–स्वरूपं यस्य तत् कला शरीरं–कार्मं मलं अपि बन्ध इत्यर्थः। एतदपि

निजाशुद्ध्यासमर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिणः

इत्यनेनैव संगृहीतम्। यथा चैतत् तथा अस्मदीयात् स्पन्दनिर्णयात् अवबोद्धव्यम्। एषां च कलादीनां किंचित् कर्तृत्वादि लक्षणं स्वरूपं आणवमलभित्ति लग्नं पुंसामावरकतया मलत्वेन सिद्धमेव।

योनेः–The source of the world, मायायाः–of Māyā, सम्बन्धी–associated with, वर्गः–class of your own attached class, that which is attached to your body, this is good and this is bad, साक्षात्–directly, च–and पारम्पर्येण–through indirect attachment, both these two classes are, तत्हेतुकः–the cause of, देह–your body, भुवन–your world (separate individual world attached to your body, आदि–etc. means the other five coverings, i.e. Kalā Vidyā, Rāga, Kālā, and Niyati, आरम्भी–brings about, किंचित् कर्तृताद्यात्मक–of the nature of doing some activity, कलादि–from kalā element to क्षित्यन्तः–the earth, तत्त्वसमूहः–the group of elements. From Kalā element world starts i.e. manifestation of differentiated world starts from Kalā element to the earth, तद्रूपं मायीयं–that is मायीयमल (Māyīyamala). From Kalā above there is the field of शुद्धविद्या। तथा–and, कला–means व्यापारः–action, शरीरं–means स्वरूपं i.e. embodiment, so कलाशरीरं means embodiment of action. कलयति means परिच्छिनन्ति i.e. divides, स्वस्वरूपावेशेन–by mental influences, तत् तत्वस्तु–into separate things, तत् कलाशरीरं–that whose form is activity i.e. कार्ममलः (Kārmmala) because it enters in your body, in your self, in your knowledge, in your mind, in your thought. It lays impression in you just नष्टोऽहम्–I am gone, शून्योऽहम्–I am nothing, that is कार्ममल। This मल (Mala) is due to वासना (Vāsanā) - impressions left behind on the mind due to karmas-actions of numberless past births. एतदपि इत्यनेनैव संगृहीतम्–The same idea has been expressed in the following verse of स्पन्दकारिका–

निजाशुद्ध्या–by your own impurity or impure limiting conditions, the above said three malas, असमर्थस्य–you become incapable of doing anything, कर्तव्येषु–various objects, अभिलाषिणः–you are driven to desires. यथा चैतत् तथा अस्मदीयात् स्पन्दनिर्णयात् अवबोद्धव्यम्–This is so may be अवबोद्धव्यं–understood, अस्मदीयात्–from my (kṣemrājās) स्पन्दनिर्णयात्–स्पन्दनिर्णय commentary on स्पन्दकारिका। एषां च कलादीनां–these kalā etc., किंचित् कर्तृत्वादिलक्षणंस्वरूपं–whose pecularities are limited activity,

आणवमलभित्तिलग्नं–based on the surface of आणवमल, (āṇava mala) पुंसां आवरकतया–Veil the essential nature of जीव–the limited being, मलत्वेन सिद्धमेव–because it is established that they are Mala-limiting conditions.

Is this type of āṇavamala, the only cause of bondage. No, says the next Sūtra:-

मायीयमल– differentiated knowledge i.e. this is mine and this is not mine, this is beautiful, this is not, this kind of knowledge is also bondage. The source of the objected world-Māyā, and the class of elements to which she gives rise is the embodiment of action. This is done this is not to be done, this is halfdone, this is well done means कार्ममल (Kārma mala). Therefore the Sūtra means that māyīya mala (मायीयमल) and kārma mala (कार्ममल) are also the cause of bondage.

Māyā the source of this world, and the class of elements connected with Māyā, directly of indirectly, these two classes are the cause of your body, your worlds, other coverings and bring about the nature of doing some activity from Kalā element to the earth element. Manifestation of differentiated world starts from Kalā element to the earth element, that is मायीयमल (Māyīyamala). The embodiment of action divides into separate things by mental influences, that is कार्ममल because its form is activity it enters in your body, in your self, in your mind in your thought. It lays impressions left behind on the mind due to Karmas-actions of numberless past births thus, this mala known as कार्ममल (Kārmamala) is due to वासना (impressions of past births). The same idea has been expressed in the following verse of Spanda kārika. It is said that by your own impurities of the three malas you become incapable of doing anything. You are driven to desire many objects but are never fully satisfied. These kalā etc. whose pecularities are limited activity etc. are based on the surface of āṇavamala and veil the essential nature of जीव– the limited being. Thus it is fully established that these are the limiting conditions.

तदुक्तं श्रीमत् स्वच्छन्दे–As has been explained in Svacchanda:-

मलप्रध्वस्तचैतन्यं कलाविद्यासमाश्रितम्।
रागेण रञ्जितात्मानं कालेन कलितं तथा॥
नियत्या यमितं भूयः पुंभावेनोपबृंहितम्।
प्रधानाशयसम्पन्नं गुणत्रय समन्वितम्॥
बुद्धितत्त्व समासीनमहंकार समावृतम्।
मनसा बुद्धिकर्माक्षैस्तन्मात्रैः स्थूलभूतकैः॥ इति॥

मलप्रध्वस्त चैतन्यं–This चैतन्यं–universal state of independent consciousness is, प्रध्वस्त–lost by मल–āṇavamala, and समाश्रितं–provided with, कलाविद्या–Kalā and Vidyā, i.e. mala is attached with limited action and limited knowledge-kārmamala and Māyīyamala, रागेण रंजितात्मानं–it is tainted by राग–attachment, तथा–and, कालेन कलितं–it is limited by काल–time, नियत्या यमितं भूयः–it is confined into the bondage of particular object, पुंभावेनोपबृंहितं–it is confined by limitation of ego, प्रधानाशयसंपन्नं–this चैतन्य is absorbed in the body of प्रकृति, गुणत्रयसमन्वितं–and this is always united with the three गुण–रजस्, तमस् and सत्त्व। बुद्धितत्त्वसमासीनं–it is established in the reality of intellect, अहंकार समावृतं–that universal `I' is limited by individual 'I' (अहंकार) मनसा–it is limited by mind, बुद्धिकर्माक्षैः–organs of knowledge and organs of action, तन्मात्रैः–it is limited by five sublte elements, स्थूलभूतकैः–and five gross elements.

This universal state of independent consciousness is lost by āṇavmala and provided with limited action and limited knowledge. It is tainted by attachment it is limited by Kāla, it is confined into the bondage of particular object, it is confined by limitation of ego, this चैतन्य is absorbed in the body of प्रकृति and this is always united with the three गुण। It is established in the reality of intellect. That universal `I' is limited by individual `I', it is limited by mind, organs of knowledge and organs of action, it is limited by five subtle organs and five gross elements.

कार्ममलस्यपि आवरकत्वं श्री मालिनीविजये प्रदर्शितम्–that Kārmamala also veils the essential nature of the emperical self, this has been explained in Malini-Vijaya also-

धर्माधर्मात्मकं कर्म सुखदुःखादिलक्षणम्।

धर्मा धर्मात्मकंकर्म–Jiva or an individual does good and bad deeds. सुखदुःखादि लक्षणं–which produce pain and pleasure.

In MāliniVijaya it has been discussed that kārmamala also covers the essential nature of the emparical self. Jiva does good and bad actions which produce pain and pleasure. Thus Kārmamala is also binding one's own reality of चैतन्य, does good and bad, produce joy or sorrow. When there is joy the sadness is carried away, when there is sorrow, the joy is carried away. When there is one there are both. Māyīya mala and Kārma mal reside always in āṇavamala. These two malas are no other than that knowledge which is shrunk.

तदेतत् मायीयं कार्मं च मलं आणवमलभित्तिकं संकुचित विशिष्ट ज्ञानतयैव उक्तम्। तत–so एतत्– these मायीयं– Māyīya, च– and कार्म मलं– Kārma Mala आणवमलभित्तिकं are based on the surface of āṇavamala आणवमल संकुचित विशिष्ट ज्ञानतयैव–particular kinds of limited knowledge, इति श्री प्रत्यभिज्ञायां उक्तं–as has been said in Iśvara Pratyabhijña also-

These Māyiya mala and Kārma mala the particular kinds of limited knowledge, are based on the surface of ānavamala — आणवमल। As has been explained in the following verse:- of ईश्वरप्रत्यभिज्ञा–

भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं जन्मभोगदम्।
कर्तर्यबोधे कार्मं च मायाशक्त्यैव तत्त्रयम्॥

अत्रैव–in this very field of आणवमल, भिन्नवेद्यप्रथा–differentiated knowledge is, मायाख्यं–Māyiyamala; कार्मं च–and Kārmamala, जन्मभोगदं–brings about birth and feeling of pain and pleasure. कर्तर्यबोधे–When the real is not recognised in a proper way that is कार्म–Kārma mala, it gives us enjoyment, sorrow, pain and repeated births and deaths, मायाशक्त्यैव तत्त्रयम्–all the three malas are brought forth by मायाशक्त्यैव–the Māyā Śakti of Śiva.

In the very field of आणवमल, there is ignorance of real self, then arise Māyiya mala which is the source of differentiated knowledge and Kārma mala brings about birth and experience pain and joy. All the three malas are brought about by the māyā Śakti of Śiva.

अथ कथमस्य अज्ञानात्मकज्ञानयोनिवर्गकलाशरीररूपस्य त्रिविधस्य मलस्य बन्धकत्वं इत्याह—

ज्ञानाधिष्ठानं मातृका॥ ४॥

अथ–Now, कथं–how, अस्य त्रिविधस्य मलस्य–this three fold mala, बन्धकत्वं–become the cause of bondage of the जीव, अज्ञानात्मक ज्ञान–अज्ञान appearing as limited knowledge (आणवमल) योनिवर्ग–Māyiyamala, कलाशरीर–Kārmamala.

Now how this three fold malas appearing as limited knowedge āṇava mala, māyiya mala and kārm mala become the cause of bondage of the Jīva.

To this he puts the answer like this:-

ज्ञानाधिष्ठानं मातृका

मातृका–unknown mother is the chief conductor of this triple limited kinds of knowledge- आणवमल, मायीयमल and कार्ममल।

मातृका–अज्ञातमाता–unknown mother, i.e., when the universal energy is known in wrong way in irrelevant way, it is energy of illusion. This is called मायाशक्तिः, when the universal energy is known in correct way, it seems to be the depth of "स्वातन्त्र्यशक्तिः"।

यदेतत् त्रिविधमलस्वरूपं अपूर्णम्मन्यताभिन्नवेद्यप्रथा–शुभाशुभवासनात्मकं त्रिविधं ज्ञानरूपं उक्तं तस्य आदिक्षान्तरूपा अज्ञाता माता मातृका विश्वजननी।

यदेतत् त्रिविधमलस्वरूपं–This three fold मल is described as अज्ञानात्मकं ज्ञानं - limited knowledge or अपूर्णमन्यता which makes oneself consider himself as incomplete is आणवमल। योनिवर्गः– or भिन्नवेद्यप्रथा, which brings sense of difference in everything is मायीयमल।

कलाशरीरं or शुभाशुभवासना which make one perform good or bad actions is कार्ममल।

This type of त्रिविधं–threefold, ज्ञानरूपं–knowledge has been उक्तं–described. तस्य–of this three fold knowledge, मातृका–अज्ञातमाता unknown mother or threefold limited knowledge, आदिक्षान्तरूपा–from अ alphabet to

क्ष alphabet, विश्वजननी–the mother of entire universe is called मातृका because she is unknown and ununderstood.

The universal mother who pervades from 'अ' to 'क्ष' in the world of alphabets is the world of वाच्य Not only letters but objects also which are nominated by words that mother is विश्वजननी– the universal mother.

तत्तत्संकुचितवेद्याभासात्मनो ज्ञानस्य अपूर्णोऽस्मि, क्षामः स्थूलो चास्मि, अग्निष्टोमयाज्यस्मि, इत्यादि तत् तत् अविकल्पक सकल्पक अवभास परामर्शमयस्य तत् तत् वाचक शब्दानुवेधद्वारेण शोक स्मय हर्ष रागादिरूपतां आदधाना

तत्तत्–the मातृका–world of universal energy, संकुचित–carried the differentiated वेद्याभासात्मनोज्ञानस्य–and sound knowledge. अपूर्णोऽस्मि–She appears to be in this way that I am not full, क्षामः–I am weak, स्थूलोश्चास्मि–I am stout, अग्निष्टोमयाज्यस्मि–and I am performer of अग्निष्टोम sacrifice. (Here अपूर्णोऽस्मि is आणवमल, क्षामःस्थूलोचास्मि is मायीयमल, अग्निष्टोमयाज्यस्मि is कार्ममल) इत्यादि etc. तत्तत् सविकल्प परामर्शमयस्य–I am only fortunate person in this world this kind of knowing सविकल्पपरामर्श, अविकल्पक अवभास–knowing in other way, तत्तत् वाचक शब्दानुवेधद्वारेण–by the penetration of different communicative words, आदधाना–brings feeling of शोक–sorrow, स्मय–pride, हर्ष–Joy, रागादिरूपतां–attachment etc.

मातृका–The world of universal energy, carried the differentiated and sound knowledge. She appears to be in this way that I am not full, I am weak, I am stout and I am performer of अग्निष्टोम sacrifice, I am only fortunate person in this world, this kind of knowing and knowing in other way by the penetration of different communicative words brings different kind of feeling. I am great master, I have so many disciples, I am world known teacher, this also comes in the field of माया। By these words, letters and their objects sometimes we are filled with grief, sometimes with wonder, sometimes with joy and some times we are filled with attachment.

करन्ध्रचितिमध्यस्था ब्रह्मपाशावलम्बिकाः।
पीठेश्वर्यो महाघोरा मोहयन्ति मुहुर्मुहुः॥

करन्ध्र–क means ब्रह्म, रन्ध्र–ब्रह्मरन्ध्र, चिति–universal mother, मध्यस्था–seated in the centre, ब्रह्मपाशावलम्बिका–with a terrible noose, पीठेश्वर्यः–the

deities of the Pitthas-seats, who are called organs of action, knowledge, mind intellect and ego, are महाघोराः–very fearful, मोहयन्ति–gets entangled in each and every corner. मुहुर्मुहुः–constantly.

Who has become the play boy of the mother to him this मातृका reside in ब्रह्मरन्ध्र. In the vicinity of that there is the universal mother who is seated in the centre of ब्रह्मरन्ध्र. Around her (चिति) are seated the deities of the pītthas-seats who are called organs of action, knowledge, mind, intellect and ego, with a terrible noose, they delude those again and again who are played by मातृका and thus good or bad things come in this way i.e. they become the victim of bad and good things. Those sense organs (पीठेश्वरी) which are seats of these Śaktis are very fearful and are three fold namely अघोरीशक्ति, घोरशक्ति, घोरतरीशक्ति or महाघोरशक्ति।

अघोरीशक्ति is helpful to aspirant towards the goal of liberation.

घोरशक्ति are numberless शक्ति–powers who indulge men in worldly pleasures and put hindrence in the path of spiritual development.

घोरतरी or महाघोर शक्ति are those numberless शक्ति (powers) who delude worldly men and drive them more and more towards worldliness.

इति श्री तिमिरोद्घाट प्रोक्त नीत्या–This Śloka is described in Timirodghatta Shāstra.

वर्ग कला आदि अधिष्ठातृ ब्राह्मादि शक्ति श्रेणी शोभिनी श्रीसर्ववीर आदि आगम प्रसिद्ध लिपि क्रम संनिवेश उत्थापिका अम्बा ज्येष्ठा रौद्री वामाख्य शक्ति चक्र चुम्बिता शक्तिरधिष्ठात्री

शक्तिश्रेणी शोभिनी–Mātṛkā shines in the line of Śaktis, अधिष्ठातृ–presiding over, वर्ग–the nine classes of letters, कला–the five specific modes of Śakti, ब्राह्मादि–in the form of Brāhmī and other Śaktis, श्री सर्ववीर आगम प्रसिद्ध–a fact which is very well made clear in the Sarvavīra and other Āgamas, लिपिक्रमसंनिवेश–by means of written character of letters of a script. उत्थापिका–she rouses people to all kinds of activity. अम्बा ज्येष्ठा रौद्री वामाख्य शक्ति चक्र चुम्बिता शक्तिरधिष्ठात्री–mātṛka is closely united with the group of Ambā, Jyesṭhā, Raudrī and Vāmā.

Mātṛka shines in the line of Śaktis presiding over the following nine classes of letters.

(स्वरसमूह)	1	अ वर्ग	by	Mahālakṣmī (महालक्ष्मी)
(क,ख,ग,घ,ङ)	2	क वर्ग	by	Brāhmī (ब्राह्मी)
(च,छ,ज,झ,ञ)	3	च वर्ग	by	māheśvari (माहेश्वरी)
(त,थ,द,ध,न)	4	त वर्ग	by	kaumārī (कौमारी)
(ट,ठ,ड़,ढ़,ण)	5	ट वर्ग	by	vaiṣṇavī (वैष्णवी)
(प,फ,ब,भ,म)	6	प वर्ग	by	vārāhī (वाराही)
(य,र,ल,व)	7	य वर्ग	by	Aindrī (ऐन्द्री)
(श,ष,स,ह)	8	स वर्ग	by	Cāmunda (चामुण्डा)
(क्ष)	9	क्ष वर्ग	by	Śāmbhvī (शाम्भवी)

The five specific modes of Śakti the subtlest aspects of the objective world, e.g. Nivṛtti kalā (निवृत्तिकला) Pratiṣthā kalā (प्रतिष्ठाकला) Vidyā kalā (विद्याकला) Śantā kalā (शान्ताकला) Śāntyātītā kalā (शान्त्यातीताकला) the षडध्वा–वर्णाध्वा, पदाध्वा, मन्त्राध्वा, कलाध्वा, तत्त्वाध्वा, and भुवनाध्वा, Mātṛkā Śakti rouses people to all kinds of activity by means of written character of letters of a script. This fact has been made clear in Sarvavīra and other Āgamas. She is closely united with the group of अम्बा (Ambā) ज्येष्ठा (Jyeṣṭhā) रौद्री (Raudrī) and वामा (Vāmā). These four energies are being kissed by मातृका। When she kisses the energy of वामा (vāmā) it gives you fruit of संसार (Samsāra). When Mātṛkā (मातृका) kisses the energy of Raudrī (रौद्री) she will fix you in a fix i.e. should I do this or that? When Mātṛka kisses the energy of Jyeṣṭhā (ज्येष्ठा) you rise to knowledge of your own nature. When Mātṛka kisses the energy of Ambā (अम्बा) it gives you the fruit that you neither go down nor up,

तदधिष्ठानादेव हि अन्तरभेदानुसंधिवन्ध्यत्वात् क्षणमपि अलब्धविश्रान्तीनि बहिर्मुखान्येव ज्ञानानि, इति युक्तैव एषां बन्धकत्वोक्तिः। एतच्च

शब्दराशि समुत्थस्य–

इति कारिकया,

स्वरूपावरणे चास्य शक्तयः सततोत्थिताः इति च कारिकया संगृहीतम्॥

तदधिष्ठानादेव हि–By kissing the four energies

अन्तरभेदानुसंधिवन्ध्यत्वात्–you are deprived of your own nature of Supreme God Consciousness, क्षणमपि–even for one second,

अलब्धविश्रान्तीनि–you are not situated in one pointedness, बहिर्मुखान्येव ज्ञानानि–your knowledge of action take you to external world not to internal world, इति युक्तैव–therefore it is correct, एषां बन्धकत्वोक्तिः–that all such knowledge is the cause of bondage.

You are deprived of your own nature of Supreme God consciousness even for one second you are not situated in one pointedness. Your knowledge of action take you to external world not to internal world. Therefore it is correct that all such knowledge is the cause of bondage.

एतच्च "शब्दराशिसमुत्थस्य" कारिकया संगृहीतम्–In the following verses of Spandkārika the idea is explained as under:-

When by hearing of sound you are being carried away then energies of Lord Śiva are always bent upon in covering your own nature.

Full two kārikas are as under:-

शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम्।
कलाविलुप्त विभवो गतः सन्स पशुः स्मृतः॥

स्पन्दकारिका ३-१३

Meaning-He (the real nature) is regarded as the fettered when being shorn of his own glory by Kalā, he gets reduced to the state of being enjoyed by the group of powers which proceed from the universe of sound.

स्वरूपावरणे चास्य शक्तयः सततोत्थिताः।
यतः शब्दानुवेधेन न विना प्रत्ययोद्भवः॥

स्पन्दकारिका ३-१५

Meaning-Powers are always in readiness to conceal the real nature from the fettered, because the orgination of cognitious is not possible without the association of words.

Śaivism of Kashmir

Dr. B.N. Pandir

(Continued from last issue)

Trika system has been much more prevalent among the Śaivas of Kashmir. The use of *makāras* is neither essentially prescribed nor totally prohibited in that system of practice. When everything is in fact the Lord Himself, what to prescribe and what to prohibit? One may make use of an object of sense pleasure or may not use it. It does not make much difference to a follower of Trika system of practice. He has to carry on his worldly activities and has to practice, side by side, a *yoga* in which mind is to be withdrawn from objective actitivities of all ideation and forming of conceptions. It is to be kept absolutely still like the flame of a lamp at a place where wind does not blow. Withdrawn from all objective activities, it turns towards the subject, that is, the real self and gets merged into it by stages. Such merger results in an intuitive realization of the real self which is nothing else but *Parama-Śiva* Himself. This is the *Śāmbhavopāya* of *Trika* system and is known as *Icchā-yoga*. It should not however be confused either with Zen-yoga of Japanese Buddhism or with the yoga of Maheśa yogin, both of which can lead only to a dreamless state and can not reveal one's divine nature.

One who is not efficient enough to practise this yoga has to perform a practice in impressing on his mind that he is in fact *Parama-Śiva*; every thing is He himself; He is in every thing and every thing is in him; all this is the manifestation of his own powers, and so on. This is the *Śakta-upāya* of *Trika* system and is known as *Jṇāna-yoga*. When an aspirant succeeds in the practice of this *yoga,* he becomes fit for the practice of *Śāmbhava yoga*.

An aspirant, not quite fit for the direct practice of this *Śakta-yoga*, has to perform its practice with the help of certain objective elements like his understanding sense, the functions of his life-force, his breath and its movement, his physical body with its nerve-centres, outward objects consisting of sounds and substances and so on. He has to concentrate his mind on an objective elements like his understanding sense, the functions

of his life-force, his breath and its movement, his physical body with its nerve-centres, outward objects consisting of sounds and substances and so on. He has to concentrate his mind on an objective element and has to see it as the divine Absolute with the help of a contemplative meditation. Then he has to see a unity between the object, the Absolute and his own self. Through such a practice he becomes merged into the absolute reality and feels himself to be the Absolute for the time being. That is the *Āṇava-upāya* of the *Trika* system and is known as *Kriyā-yoga*. When a practitioner succeeds in its practice he becomes fit for taking up the *Śākta-yoga*.

The elements of objective meditation and mental activity attain prominence in *Āṇava-yoga*. That Yoga consists of objective meditation and *Śākta-yoga* consists of subjective contemplation. The element of knowning becomes more prominent in *Śākta-yoga*, because it consists of practices in imagining and in forming correct conceptions of the exact reality. *Śāmbhava-yoga* is free from all imaginations, conceptions, contemplations and concentrations. Both the elements of mental doing and knowing are pushed to the background in its practice and the element of will to shine in one's pure being attains prominence in it. When such *Icchā-yoga* becomes perfect, the aspirant starts to have direct self-realisation without any practice of even the exercising of his will. Śiva-yoga at such stage is known as *Ānanda-yoga* or *Anupāya-yoga*, that is, the Yoga without any means. That is the highest stage of the *Śaiva-yoga* of the *Trika* system of *Sādhanā*.

(Extracts from History of Kashmir Saivism by Dr. B.N. Pandit)

History Versus Fiction

Dr. B.N. Pandit

Many a time some devotees of great persons, like highly advanced saints, propagate ficticious accounts regarding their origin, development and life history. Śankara digvijaya of Madhavācārya is a proniment example of such literature[1]. Another such example is the account of the origin of Śivasutra as given by Kṣemarāja. Such traditions are going on even now; for instance the episode of potatos in connection with the untimely death of the elder brother of Swami Śri Laksmanjoo, as written by Sri S.K. Mam. The exactly real potato-episode was related to me by Shri Madhava Ram, a compounder of the then Drogjen Hospital, Srinagar who used to stay for the nights at the Ram-ashram, Fateh kadal and to render the kitchen service to Śaivācarya Shri Rāmajoo, quite regularly while paying just a few visits in a week to his own home in the down part of Srinagar. The episode as related by him to me is given below in his own words :-

It had become my habit to stay with the Master for nights for several days in a week and to render all the necessary service to him. On one night when I served a rice meal with several delicious dishes to the Master, as usual, I saw that he could not take anything. He just touched the rice praparation and the delicious dishes of several types with his right hand, moved the things towards right and left, but could not put anything into his mouth. I suggested to serve him with severel other niceties, but he did not feel appetite for anything. After wasting some time in this way, he suddenly uttered, `Prepare a roasted potato for me as I may succeed in taking some rice with it". I searched for potatoes, but there was none in the store. Then the master asked me to go to Pt. Naranjoo's home and get a few potatoes from his wife. I had to obey his orders. I went to the house of Sri Narayan joo at the dead of the night, knocked the gate, so much so that they were arroused from their deep sleep. The wife of Sri Narayan joo, looked out of the window and asked as to what brought me here at such an odd time.

---

1. Compare it with Sankara vijaya by Anantānandagiri, the fifth teacher in the line of Śankarācarya.

I told her plainly that the Master wants a few potatoes so that he could eat his evening meals with a few roasted ones Becoming angry for the disturbance in their sleep for the purpose of just a petty thing like a potato, she told me that she does not have any potatoes and cannot supply them at such odd time. In fact she took such a demand at such a time from the Master as something quite childish and ignored the request.

I came back to the Āshram empty handed. I could not dare to tell any lie or lies before the Master and told him plainly what the wife of his ardent devotee had told me. Hearing such a reply of the lady from me, he became suddenly angry and uttered such words - "You see, her eldest son is going to die tomorrow. I tried my best to save him from such sudden death, but the destiny is highly powerful and he shall die tomorrow. Had she given even a single piece of potato, I could save him, but the destiny is now inevitable in the case". Saying so the master washed his hands did not eat anything and went to sleep.

This was the episode told to me by Sri Madhavaram, Compounder. "Sri Madhavjoo added thus in addition :- The next day, when I served him with food at night and when he was thinking of going to sleep, I stood before him with folded hands and prayed to him thus, Sir, your word is invitable. I am the only son of my mother. If any such thing comes out of your speech in my case, what shall become of my whole house hold" on hearing such quiry from me the Master laughed aloud and said - "Dear Madho, I never intended to end the life of the young man. He had to die and I could see it. I was very anxiously thinking of something to save his life. Had his mother given you even a single piece of potato, I could have saved his life. But she refused to do it and the result has been seen by you."

One can guess that the Master could satisfy some messenger of the god of death by offering him some sacrificial food with a potato preparations, made by roasting a piece and offering it with salt to some deity who would become satisfied and leave the boy alive. Such things are known to siddhas and we people cannot understand them fully and cannot give any satisfactory answers to any questions starting either as`how' or as 'why'. The ways of siddhas and the nature of deities are quite secret to us. Several such occasions have been heard by the writer of these lines from the speech of yogins and saints. The laws of our world do not apply there.

A Historic Improbability

Sh. P.N. Kachru

In "Malini" issue of April 1998, the article under the title "Swami Ram Ji - a Parma Siddha" authored by Shri S.K. Mām, has a historic improbability that goes against the authentic and well-documented history, life and missions of Swami Vivekananda. Here I feel it necessary to refer to various volumes of the "life" and "biographies" published by Advaita Ashram, Calcutta; and also to the memoirs by various Sanyāsins, especially sister Niveditta who accompanied the Swami to Kashmir and to Amarnath pilgrimage. Also, I find it necessary to refer to most authentic biography of the Swami written by reputed author Romain Rolland (Advaita Ashram).

Thus, the historic facts stand as under :-

a. Address to Parliament of Religions, Chicago, USA : Monday, 11th Sep. 1893.

b. First visit to Kashmir; August, 1897.

c. Visit and great Revelation of Amarnath (along with sister Niveditta) Shrāvana Poornima, Aug. 1, 1897.

d. The great Darshan of Mother at Tullamulla, and transformation to God-head, early October, 1898.

Thus it is authentically clear that the Swami visited Kashmir.after his address to Parliament of Religions at chicago, and not before, where he had already propagated this event, his own transformation and Liberation was achieved at Amarnath initially on 2nd. August 1897; and finally at Tulamulla (Khir-Bhavāni) in early October 1898.

Scholar author Sh. S.K. Mam should correct the events accordingly and reproduce the article for the benefit of readers.

Think Over It

मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिको रसः
एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु॥

Detachment for worldly objects is liberation, attachment for these objects is bondage. This is knowledge. Now do as you please.

त्यजैव ध्यानं सर्वत्र मा किंचित् हृदि धारय।
आत्मा त्वं मुक्त एवासि किं विमृश्य करिष्यसि॥

Completely discard even meditation, do not contemplate upon anything. Already you are the liberated soul, you will not achieve anything by thinking.

आचक्ष्व शृणु वा तात नानाशास्त्राण्यनेकशः।
तथापि तव न स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणात् ऋते॥

O dear one! you may speak upon or listen different scriptures in many ways but unless you forget everything you cannot attain self-realization.

आयासात् सकलो दुःखी नैवं जानाति कश्चन।
अनेनैवोपदेशेन धन्यः प्राप्नोति निर्वृत्तिम्॥

All are disturbed because they do action, nobody knows this fact. By this very teaching a fortunate man is able to get liberation.

न कदाचित् जगत्यस्मिन् तत्त्वज्ञो हन्त खिद्यति।
यत एकेन तेनेदं पूर्णं ब्रह्माणुमण्डलम्॥

Oh! the realizer of the Truth never feels disturbed in this world, because this whole world is filled by himself alone.

यदा यत्कर्तुं आयाति तदा तत् कुरुते ऋजुः।
शुभं वाप्यशुभं वापि तस्य चेष्टा हि बालवत्॥

The man of Truth does whatever comes to him as duty, whether good or bad, because his all actions are a child-like.

(Gems from Aṣṭāvakra Gītā Sāra)

Utpala and the philosophy of recognition

Pt. Jankinath Kaul `Kamal'

Vasugupta was the first propounder of Śaivism in Kashmir. He flourished in the middle or the late Eighth Century A.D. Worship of different deities, the Yoga system and the Śaiva faith have already been in practice in Kashmir. According to Dr. K.C. Pandey, the Kula and the Krama, systems of Śaivism existed in Kashmir much before Atri Gupta and Sangamaditya were invited by King Lalitāditya to settle in Kashmir. 'Agamas' are believed to have emanated from God himself. It is natural, therefore, that, after the lapse of a certain cycle of time, the system of thought begins to fade away. Its revival, is also natural. Śaivism thus revived in Kashmir when Lord Śiva Himself revealed Śiva-sutras to Vasugupta in the vicinity of the Harwan village. Vasugupta re-established the faith by explaining the Sutras to his disciples. This developed into two divisions - one the Spanda system of thought and the other the Pratyabhijñya Philosophy. Siddha Somananda's Shivadrishti explains the latter. His teachings were imbibed well by his disciple Utpala, who possessed a sharp intellect. This brilliant disciple re-established the thought of 'recognition' with his illustrious work Iswara-Pratyabhijñya. It is stated that Utpala was motivated to write the Karikas on the request of his son Vibhramakara. In this treatise, he reflects the wisdom taught to him by his preceptor. It is an exhaustive exposition of the Philosophy of Recognition. Persian scholars of Kashmir have termed it 'Khirdi-Kamil' -Wisdom of the sage. Together with various commentaries on this book and other similar works, there grew up a mass of literature round the Pratyabhijñyā Karikas of Utpala. This work assumed such an importance that the whole system of Kashmir Śaiva Philosophy came to be known as Pratyabhijñyā Darshan' in India and abroad.

We know little about the early life of Uptala, who grew to be a great mystic saint of Kashmir. This, however, comes to us by tradition that he lived somewhere in downtown of Srinagar in the middle of the ninth century A.D. This is also as calculated from the date available in Rajatarangini. From the colophones of works of his contemporary authors and those who followed him, we know that he was a Brahmin and lived

a married life. His father's name was Udayākara. Utpala was followed by his disciple Lakṣmaṇa Gupta, one of the preceptors of the great Abhinavgupta, who wrote an exhaustive commentary and gloss on this work.

Although Utpala's Ishwara Pratyabhijñya is difficult to assimilate as it deals with abstruse logic, yet it is a perfect work on this philosophy. It is not only a set of philosophic doctrines but also contains instructions on practical yoga. It is, therefore, preached for aspirants of the highest ability, who can develop constant awareness of Supreme Consciousness. The three means advocated by Kashmir Śaivism, in general, are recognised in this philosophy. It is, however, known as Anupāya-the means without any means:-

"Only the five great functions are to be followed. Since there is no existence of impurity, whence can there by any erosion! It is only a change in the point of view. Otherwise, nothing has happened to Śiva. No Jīva Bhāva has been assumed by Him".

This doctrine of 'Recognition' was explained with the following illustration:

"A girl and a boy, whose marriage was fixed and who did not know each other, one day happened to sit together along with their relatives and friends at a fair. During this short company the girl served tea to the party in which one was her would-be groom. There was no stir of feeling in either of them. But while tea was served, a common acquaintance hinted the scheduled marriage to the one sitting by his side. Instantly a wave of the feeling of love ran through the bodies of both. The girl recognized her lover".

In the same way 'Jīva' recognizes himself in Śiva with the help of his preceptor. This is the philosophy of 'Recognition' in nutshell. Utpala preached it more comprehensively. He sat and wrote his abstruse asphorisms during calm moments. This was his self-introspection which got established as philosophy. Gaudapada, the great preceptor of Śankara also expounded a similar philosophy earlier. It is known as 'Ajātavāda' in the Advaita Vedanta Philosophy. He says that nothing is born and so nothing

dies. It is only the change in vision that the world appears as such. Utpala explained the philosophy in his own way and convincingly too.

Tradition goes that Utpala, during the latter period of his life, would often be in spiritual ecstasy. His practices had ripened by divine grace of Lord Śiva as a result of which he uttered notes full of divine rapture, intensely musical and pregnant with esoteric meaning. These verily revealed the 'heart of Utpala'. He gave the same philosophical doctrines and exclusively devotional tinge. he sang verses in different tunes in praise of his Lord, expressing non-dual devotion - 'Abheda Bhakti'. He was so engrossed in his ecstasy that he did not keep a record of his compositions. He floated above body consciousness.

Since divinity also recedes to duality, more often than not, while soul resides in body, Utpala would sometimes come down to it and open his eyes to look around. Filled with divine consciousness he would find his own mental reflection outside and get instantly drawn within. Once in spring, being in his ecstatic mood for long, Utpala opened his eyes and saw almond blossoms strewn by wind on the ground. At once he exclaimed: "Ah, devotees have performed worship and adorned the Lord with flower wreaths. Only I fall back". Uttering thus he instantly got into Samadhi again.

Another time, while running in divine ecstasy, Utpala's locks got entangled among bushes. He felt that his beloved Śiva was catching hold of him. Imagining thus he got drawn into meditation. This shows that he was a psychologic abnormality with a soft heart. Since psychology has no approach to the spiritual field, as it is beyond the range of mind and matter, Utpala is known to have measured a considerably divine height. He need not sit for meditation. Śiva was always in his being just as Mother Kali's divinity was always present in Paramahamsa Ramakrishna's being. He sang in melodious tune while panting for the final beautitude of Śiva, addressing Him with earnest devotion. This speaks of the extent of his joy, the expression of which was termed 'Januni-Kamil'-divine ecstasy of the sage - by the Persian scholars.

Thus Utpala is said to have composed a large number of verses many of which were collected and compiled by Sri Rām and Ādityaraja. Finally,

these were classified into twenty hymns by a great scholar Vishvāvarata, who gave each hymn his own heading. The compilation is named Utpala's Śivastotrāvali. This information comes down to us from Ksema Rāja, a later author and disciple of Abhinavgupta. In this exhaustive commentary, he tells us, at the very outset of the book, that Utpala had however composed and named three hymns by himself. These are 'Samgrahastotra; Jayastotra and Bhaktistotra' thirteenth, fourteenth and fifteenth chapters respectively, as arranged in the printed book.

Unplumped deeps get stirred as the rhythm on the reciting of or the listening to the verses of *Śivastotrāvali* touches one's ears. One sits rapt and breathless. A new life, a course of study and of meditation seems to begin. The centre of interest gets shifted. You continue to sing to yourself or muse on the versified lines. Tears of joy, like pearls, trickle down the eyes and one virtually forgets oneself. Utpala addresses his beloved:

संग्रहेण सुखदुःखलक्षणं
मां प्रति स्थितमिदं श्रृणु प्रभो।
सौख्यमेष. भवतः समागमः
स्वामिना विरह एव दुःखिता॥ संग्र. स्तो. १॥

"O Lord! spare just a while to listen to
My pleasure and pain in nut-shell,
This being with thee is joy supreme,
Bereft of thy grace, I suffer pain"

Here you have a feeling of an isolated joy that is experienced by listening to the shrill voice of a morning bird or the continued flow of a waterfall. Utpala, for all purposes was a mystic, a loving and pure-hearted soul, whose example we much later again find in 'Lalleshwari Nund Rishi and Rapa Bhawani'. Swami Rama Tirtha was one of such modern saints.

As the chief characteristic of Utpala's language is symbolism, it appeals to all sects of people, especially to those who understand it. His power of penetrating human hearts enraptures one with his dynamic touch. He sang-

लोकवद्भवतु मे विषयेषु
स्फीत एक भगवन्परितर्षः।
केवलं तव शरीरतयैतान्
लोकयेयमहमस्तविकल्पः॥ शि. स्तो. ८-३॥

"O Lord! I may possess like common people,
desire for enjoyment in the world.
But with this difference that I should look upon these
as thyself-without the least idea of duality."

Utpala stressed on reconciliation of knowledge and devotion which practically means earnestness in knowing the self. He categorically expressed-

यद्यथास्थितपदार्थदर्शनं
युष्मदर्चनमहोत्सवश्च यः।
युग्ममेतदितरेतराश्रयं
भक्तिभालिषु सदा विजृम्भते॥ संग्र. स्तो. ७॥

"There is naught but thy existance in the universe
for those endowed with knowledge of self
"Thy worship is great celebration for those
who are blessed by thee--
"Both these statements ever befit thy earnest devotees".

Again he gushed-

व्यापाराः सिद्धिदाः सर्वे ये त्वत्पूजापुरःसराः।
भक्तानां त्वन्मयाः सर्वे स्वयं सिद्धय एव ते॥ शि. स्तो. १७,२॥

"All their actions bear fruit who worship Thee
for their fulfilment,
But every act of thy devotees, who reside in Thee
is the fruit by itself."

These lyrical songs of Utpala are pithy and pierce through the very recesses of the heart of the devotee, who is endowed with divine grace. Utpala sang, rather uttered these notes, like a singing bird, not for others

but for himself, drowned in the divine. His own feelings and emotions, joys and sorrows and above all his intense longing as an earnest seeker of spiritual truth are vividly pictured in the hymns.

Utpala's philosophy of Recognition can be summed up in the following lines:

(अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि रोचते न मे।) (सं. स्तो. १७)

COURTESY:-
SANT SAMAGAM RESEARCH INSTITUTE
37/4 Pandoka Colony, Paloura Jammu-181121

मालिनी के प्रति पाठकों और भक्त जनों के बड़ते हुए प्रेम और उत्साह को देखकर हमें हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। विभिन्न स्थानों से जो पत्र मुझे मिले उनमें अनेक तथ्यों को उभारा गया है। पर खेद की बात है कि आदरणीय प्रिय पाठक विषय को पूरी तरह से समझने के बिना ही शंकाओं के मालिन्य से बुद्धि को मलिन बना देते हैं। मेरी उनसे विनम्र प्रार्थना है कि वे जिस किसी विषय को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं, वास्तव में वह ऐसा नहीं। क्योंकि उनकी बुद्धि वस्तुओं की बाहिरी चमक से अभिभूत होकर आन्तरिक तत्त्व से कोसों दूर रहती है और वे अर्थ का अनर्थ कर बैठते हैं। जिसे आप संदिग्ध समझते है उस विषय को आदि से अन्त तक एक दो बार पढ़कर मनन करें आप की शंका वही शान्त होगी और दृष्टि दोष भी मिट जायेगा। भगवान श्री कृष्ण ने भी गीता जी में कहा है कि- ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैवभजाम्यहम्॥ अर्थात् ''जो जैसे मुझको भजे, वे वैसा फल पाय''।

पढ़ो समझो और मनन करो यही शिक्षा का मूल मंत्र है।

संपादक

Don't Quit

When things go wrong
  As they sometimes will
When the road you are treading
  Seems up the hill
When the funds are low
  And the debts are high
And you want to smile
  But you have to sigh
When care is pressing
  You douse a bit
Rest, if you must
  But don't quit.

Note : Found pasted on the notice board of Jammu Ashram.

Oh God,

let me become like a drum. Silent in myself, ever awaiting your Divine touch. An instrument, only of your will, ever ready to reasonate with your song.

Said by Svāmīji Māharāj in the year 1979 at Ishber Ashram Srinagar

Organization and Yourself

Some members keep their organizations strong
While others join and just belong
Some dig right in, some serve with pride,
But some go along just for a ride,
Some volunteer to do their share,
While some sit back and just don't care
On meeting days some always show
But then there are those who never go,
Some always pay their dues ahead,
Some get behind for months instead,
Some do their best, some build, some make,
Some never give, but always take
Some lag behind, some let things go,
Some never help their organization grow
Some drag, some pull, some don't, some do
Now decide, which of these are you?

Courtesy
Vedanta Kesari Madras

विज्ञानभैरव – समीक्षात्मक अध्ययन

मूलप्रवचनकार

शैवाचार्य ईश्वरस्वरूप स्वामी लक्ष्मण जू महाराज

(गतांक से आगे)

कुम्भिता रेचिता वापि पूरिता वा यदा भवेत्।
तदन्ते शान्तनामासौ शक्त्या शान्तः प्रकाशते॥

(*अन्वय*–रेचिता कुम्भिता पूरिता वा यदा (मरुद्रूपा) शक्तिः भवेत् (तदा) तदन्ते (तया) शक्त्या शान्तनामा असौ शान्तः प्रकाशते॥ २७॥)

जब प्राण और अपान रूप शक्ति विधि से बाह्य कुम्भक अवस्था में या आभ्यन्तर कुम्भक अवस्था में लगातार अभ्यास करने से शान्त हो जाती है तब कुम्भक की प्रशान्त अवस्था उदित होने से मरुद्रूपा शक्ति अपने शान्त स्वभाव में लीन हो जाती है और परम शान्त स्वभाव स्वात्मस्वरूप प्रकट हो जाता है।

स्वामी जी महाराज का निर्देश है, कि यह अभ्यास, जिसे हठयोग कहते हैं, थोड़ा बहुत परिश्रम से सिद्ध होता है। जब आप अपने श्वास को अन्दर लेते हो, और जब यह हृदय प्रदेश तक पहुंचता है, तो इसे थोड़ी देर के लिए रोको और फिर उसे छोड़ो। जब यह बाह्य द्वादशान्त तक पहुंचेगा तब फिर उसे रोको। थोड़ी देर के लिए प्रतीक्षा करो। इसे जल्दी में फिर से अन्दर मत लो। इसी अभ्यास का यहां संकेत करते हैं इस कथन से कि 'रेचिता सती प्राणशक्तिः कुम्भिता'। जब आप श्वास बाहिर छोड़ते हैं तो इसे बाहिर थोड़ी देर के लिए रोको। इसे अधिक देर के लिए बाहिर रोकना नहीं है अपितु इसे दस स्यकण्ड (Second) अथवा पन्द्रह स्यकण्ड (Second) के लिए रोको। यही उस क्षण का कुम्भक है। पूरी शक्ति से प्राण वायु को वहां बाहिर रोके रखना कुम्भक का अभिप्राय नहीं है अपितु उतनी देर रोके रखे जितनी देर तक विना कष्ट के रोक सकते हो। आपने इसका अभ्यास इस प्रकार आरम्भ करना है कि जब आप बाह्य द्वादशान्त तक प्राण शक्ति को पहिले लेंगे तो वहां से फिर इसे अन्दर लेंगें और फिर अन्तः द्वादशान्त पर इसे रोके रखेंगें।

अन्तः द्वादशान्त पर रोके रखने का अभिप्राय स्वामी जी महाराज का यह है कि हृदयस्थान पर प्राणवायु को रोके रखे। इसे बाहिर न छोड़े। आपने इसे केवल दस स्यकण्ड के लिए (For ten seconds) रोके रखना है तो फिर इसे छोड़ना है। इसी अभ्यास की

प्रक्रिया को आपने प्रत्येक श्वासोच्छ्वास के साथ जारी रखना है। यह अभ्यास इसी रूप में तब तक जारी रखना है जब तक शान्त स्वरूप प्रकाशित न होवे। स्वामी जी महाराज कहते हैं, कि हमें ऐसा ही अभ्यास कम से कम रोज़ छः घण्टे तक जारी रखना चाहिए। यह हानिकर साधना नहीं है। केवल अवहित हृदय से हमें इस प्राणशक्ति को दस स्यकण्ड बाहर और दस स्यकण्ड अन्दर रोके रखना है। अन्त में फिर क्या होता है कि शान्त अवस्था अर्थात् सदाशिव दशा की प्राप्ति होती है। ''शान्तनामा'' का तात्पर्य यही है कि 'शकारस्य अन्ते 'स' कारः अर्थात् सदाशिवता। यह शान्तिपूर्ण दशा होती है अतएव इसे 'शान्त' नाम से पुकारते हैं।

शान्त नामा— सदाशिव अवस्था जो संपूर्णरुपेण शान्तिपूर्ण है।

प्रकाशते— अभिव्यक्त होती है।

तदन्ते— उसके अन्त में।

शक्त्या— प्रादन शक्ति से अर्थात् आपने इस प्राण शक्ति को पहले बाहिर लेना है, वहां रोके रखना है, फिर अन्दर लेना है वहां भी हृदयधाम पर कुछ देर के लिए रोके रखना है। इसी रूप में अभ्यास क्रम को जारी रखने के पश्चात् परिणाम यह होगा कि सर्वथा शान्तिपूर्ण दशा 'सदाशिव दशा' की प्राप्ति होगी।

यह अवस्था 'आणवोपाय' क्रम से 'शाक्तोपाय' की ओर जाना है। क्योंकि जहां तक कुम्भक को प्रयोग में लाना होता है वहां तक आणवोपाय की स्थिति है। कुम्भक में प्राणवायु को रोकना है तब तक मन की प्रक्रिया सक्रिय है। मन की प्रक्रिया के शान्त न होने के परिणाम स्वरूप ही यह आणवोपाय है। जब शान्त अवस्था अर्थात् सदाशिव दशा को प्राप्त करते हैं तो यह शाक्तोपाय की स्थिति है अतः यह साधना प्रक्रिया आणवोपाय से शाक्तोपाय की ओर लेती है।

स्वामी जी महाराज से एक भक्त के यह पूछने पर कि सदाशिव दशा, शिवदशा या भैरवदशा में क्या अन्तर है? तो सद्गुरु महाराज कहते हैं कि सदाशिव दशा भी भैरवदशा ही है पर अन्तर यह है कि भैरव दशा वह सदाशिव दशा है कि जहां से इस शरीर में लौटने की संभावना नहीं है जब कि सदाशिव दशा में है। यह भैरव दशा उन्मीलन समाधि और निमीलन समाधि दोनों में समान होती है। सदाशिव शिवतुल्य ही है, पर देहस्थित है, जब तक शरीरस्थिति है तब तक सदाशिव की वह भैरव दशा है। पर 'शिव' भैरव की वह अवस्था है जो केवल शिव ही है और कुछ नहीं। सदाशिव अवस्था शिव दशा नहीं है। अतः यह

सिद्ध हुआ कि साधक इस देह से सदाशिव दशा से आगे नहीं जा सकता है। साधक परासंवित् को प्राप्त करता है। वह परासंवित् ही सदाशिव दशा है। सदाशिव दशा से आगे वह नहीं जा सकता। कहा है कि 'देहपाते तु परमशिवभट्टारक एव भवति'' अर्थात् इस नरदेह को त्यागने के पश्चात् ही साधक शिवैक्य प्राप्त करता है। कुम्भकावस्था के अभ्यास से प्राप्त सदाशिव दशा आणवोपाय से शाक्तोपाय प्राप्ति है जैसा कि ऊपर कहा गया है। अतः यह स्थिति शांभवोपाय के लिए ग्राह्य नहीं क्योंकि शाम्भवोपाय में प्राणापान निरोध की महत्ता अपेक्षणीय नहीं होती है। शांभवोपाय तो चरम उपाय है जबकि कुम्भकावस्था निम्नावस्था है। इस अधर उपाय से शांभवोपाय जैसा महनीय उपाय प्राप्त नहीं किया जा सकता है। केवल शाक्तोपाय से ही शाम्भवोपाय पर आसीन हो सकते हैं, शाक्तोपाय अन्तिम सीढ़ी नहीं, शाम्भवोपाय तो चरम अवस्था है जिसे शाक्तोपाय को त्यागने के पश्चात् ही प्राप्त किया जा सकता है।

उपरोक्त सदाशिवं दशा तो आणवोपाय से शाक्तोपाय की प्राप्ति है॥

आमूलात् किरणाभासां सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरात्मिकाम्।
चिन्तयेत् तां द्विषट्कान्ते शाम्यन्ती भैरवोदयः॥ २८॥

(*अन्वय*—आमूलात् किरणाभासां सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरात्मिकां द्विषट्कान्ते शाम्यन्तीं तां चिन्तयेत् (एवं) भैरवोदयः भवेत् इतिशेषः॥)

मूलाधार चक्र से लेकर उठने वाली शक्ति का चिन्तन करे जो सूर्य की किरणों के समान प्रकाशमान है, और जो सूक्ष्म से सूक्ष्मतर अवस्था की ओर अग्रसर होती हुई द्वादशान्त में विलीन होती है। इस प्रकार के अभ्यास से स्वाभाविक भैरवदशा का उदय होता है॥

यह वह अवस्था है जब साधक उस प्राणशक्ति पर एकाग्रचित्त होता है जो कुण्डलिनी के रूप में उदित होती है। यह मूलाधार चक्र से ऊर्ध्व द्वादशान्त की ओर उठती है। यहां ऊर्ध्व द्वादशान्त ही अभिप्रेत है, बाह्य द्वादशान्त नहीं। बाह्य द्वादशान्त तो साधारण द्वादशान्त है। ऊर्ध्व द्वादशान्त तो ब्रह्मरन्ध्र का ही समानार्थक है। कुण्डलिनी शक्ति तो मूलाधार से उठ कर ऊर्ध्वद्वादशान्त की ओर जाती है बाह्य द्वादशान्त की ओर नहीं। यह कुण्डलिनी नामक प्राणशक्ति श्वासोच्छ्वास मार्ग से नहीं उठती है अपितु यह मूलाधार से सीधी ब्रह्मरन्ध्र की ओर उठती है। वही ब्रह्मरन्ध्र तो ऊर्ध्व द्वादशान्त के नाम से पुकारा जाता है।

ऊर्ध्व द्वादशान्त को ब्रह्मरन्ध्र की परिधि से दूर नहीं समझना चाहिए। ऊर्ध्वद्वादशान्त तो ब्रह्मरन्ध्र ही है। ब्रह्मरन्ध्र से दूर व्यापिनी मानी जाती है जिसे ऊर्ध्वशिखा कहते हैं।

तां– उस प्राणशक्ति को।

चिन्तयेत्– चिन्तन करे।

आमूलात्– मूलाधार से लेकर।

किरणाभासां– किरणों के रूप में

सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरात्मिकां– सूक्ष्म से सूक्ष्मतर है।

द्विषट्क– अर्थात दो बार छः (Six) = बारह – द्वादश-अन्त= द्वादशान्त

द्विषट्कान्ते– ऊर्ध्व द्वादशान्त पर। अर्थात् जब वह प्राणशक्ति ब्रह्मरन्ध्र पर विराजमान होती है तो वह संपूर्णरूप से शान्त होती है। उस अवस्था में भैरव अवस्था का उदय होता है। यही तो कुण्डलिनी के रूप में प्राण शक्ति का उदित होना है। पर प्राण कुण्डलिनी के रूप में नहीं अपितु चित् कुण्डलिनी के रूप में।

उद्गच्छन्तीं तडिद्रूपां प्रतिचक्रं क्रमात्क्रमम्।
ऊर्ध्वं मुष्टित्रयं यावत् तावदन्ते महोदयः॥

(*अन्वय*– तां तडिद्रूपां प्रतिचक्रं क्रमात्क्रमं उद्गच्छन्तीं (चिन्तयेत्) यावत् ऊर्ध्वं मुष्टित्रयं तावत्, अन्ते महोदयः॥)

बिजली के समान एकाएक चमकने वाली शक्ति का, प्रत्येक चक्र में कन्दस्थान से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक क्रम से ऊपर उठती हुई अवस्था में, चिन्तन करे। इस साधना से मुष्टित्रयपरिमित द्वादशान्त में प्रकाशमान भैरवस्वरूप का उदय होता है।

उदगच्छन्तीं– ऊपर की ओर एकाएक उठती हुई। यह कुण्डलिनी शक्ति अधिक बल से ऊपर की ओर आती है।

तडिद्रूपां– बिजली के कोंधने के समान उदित हुई। यह मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र की ओर सीधी नहीं आती है अपितु

प्रतिचक्रं– क्रम से षट्चक्रों का भेदन करती है। यह प्राण कुण्डलिनी की विधि है। क्रमात्क्रमं–क्रम से अर्थात् मूलाधार चक्र से यह पहिले नाभिचक्र की ओर उठती है, नाभिचक्र से यह हृच्चक्र (heart) की ओर, हृच्चक्र से कण्ठदेश की ओर (throat) कण्ठदेश से भ्रूमध्य (between the two eye brows) की ओर और भ्रूमध्य से यह फिर ब्रह्मरन्ध्र की ओर उठती है।

मुष्टित्रयम्— एक मुट्ठी का परिणाम तीन गुना चार=बारह अंगुल है (breadth of twelve fingers) इस तरह मुष्टित्रयं शब्द का अर्थ द्वादशान्त है। मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक प्रत्येक चक्र का विस्तार बारह अंगुल है। अर्थात् मूलाधार चक्र से नाभिचक्र तक बारह अंगुल का विस्तार, नाभिचक्र से हृच्चक्र तक बारह अंगुल का विस्तार, हृच्चक्र से कण्ठदेश तक बारह अंगुल का विस्तार, कण्ठदेश से भ्रूमध्य तक बारह अंगुल का विस्तार और भ्रूमध्य से ब्रह्मरन्ध्र तक भी बारह अंगुल का विस्तार है। अतएव इन षट्चक्रों के प्रत्येक आयाम को भी द्वादशान्त कहते हैं और यह द्वादशान्त ऊर्ध्व द्वादशान्त के रूप में अन्त में कहा जाता है।

स्वामी जी महाराज कहते है कि प्राणकुण्डलिनी न केवल ब्रह्मरन्ध्र तक ही उठती है अपितु नियमपूर्वक किये गये अभ्यास के परिणामस्वरूप यह सहस्त्रार तक जा सकती है।

सिद्धियों की इच्छा रखने वाले साधक के लिए भी प्राण कुण्डलिनी का आवेश होता है। सिद्धियों की इच्छा के अभाव में चित् कुण्डलिनी का आवेश होता है। जब यह शक्ति मूलाधार से उठती हुई प्रत्येक चक्र का यथाक्रम से भेदन करती हुई ब्रह्मरन्ध्र तक पहुंचती है तो वह साधक योगी महान अष्टसिद्धियों को धारण करने वाला होता है। इस प्रकार प्रतिचक्र का भेदन करता हुआ यह योगी मूलाधार चक्र से ऊर्ध्व द्वादशान्त तक सीधे पहुंचता है। फिर वहां और कोई बड़ी शक्ति नहीं होती है।

स्वामी जी के निर्देशानुसार इस प्राणकुण्डलिनी को कोई भी योगी किसी विशिष्ट चक्र पर अथवा भ्रूमध्य पर रोक कर फिर आगे इच्छानुसार नहीं ले सकता है, क्योंकि यह उसके सामर्थ्य से परे है। अतएव कोई भी साधक बिजली की कौंध के समान उठनेवाली इस शक्ति को किसी नियत चक्रस्थान पर रोक नहीं सकता है। इसके ऊर्ध्वगमन में तभी ठहराव आ सकता है जब साधना में कोई बाधा आवे, या साधक चिन्ताग्रस्त अथवा असमाहित हो। स्वयं इसकी गति निर्बाध है। जब निर्बाध गति से चक्रभेदन हो रहा हो तो यह प्राणशक्ति भ्रूमध्य तक और भ्रूमध्य से सहस्त्रार तक निर्विघ्न उठती है। यदि साधक में सांसारिक अभिलाषायें सूक्ष्म रूप से विद्यमान हो तो उसकी प्राणकुण्डलिनी शक्ति भ्रूमध्य से आगे नहीं जा सकती है। वह साधक अत्यन्त सामर्थ्यवान् होता है पर स्वरूप समावेश से वंचित रहता है। वह सदाशिव दशा को प्राप्त नहीं करता है जब वह समाधिनिष्ठ होता है। पर कुण्डलिनी शक्ति के भ्रूमध्य तक पहुंचते पहुंचते वह जिस संवित् भाव में विलीन रहता है वह तो मन्त्र प्रमातृभाव में समाप्त होता है मन्त्रेश्वर भाव में नहीं। ऐसा साधक अपने ध्येय से अपने लक्ष्य से चूकता नहीं। वह सदा सन्मार्ग पर स्थित रहता है पर जीवन में कुछ स्पृहणीय पद को प्राप्त नहीं कर सकता है।

चिन्तयेत्–चिन्तन करे। 'चिन्तन करे' यह इसीलिए कहा गया है कि हमें इस उच्च स्थिति तक पहुंचने पर भी समाहित रहना चाहिए। हमें अपनी समाहितता किसी भी दशा में छोड़नी नहीं चाहिए।

महोदयः– इस स्थिति के अन्त में महान् भैरवस्वरूप जो प्रकाशमान है, उदय में आता है।

क्रमद्वादशकं सम्यक् द्वादशाक्षरभेदितम्।
स्थूल सूक्ष्म परस्थित्या मुक्त्वा मुक्त्वान्ततः शिवः॥

(*अन्वय*–(यत् क्रमाणां द्वादशकं) क्रमद्वादशकं (तत्) सम्यग् द्वादशाक्षर भेदितं (ध्यायेत्) (तत् च प्रत्येकं) स्थूल सूक्ष्म परस्थित्या मुक्त्वा मुक्त्वा अन्ततः शिवः (एव भवति)॥)

इस शरीर में क्रमानुसार बारह चक्र हैं जो बारह स्वरों से सम्बद्ध हैं। इन बारह चक्रों पर हमें क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म और पर पद्धति से (त्रिविध उपाय के रूप में) ध्यान करना चाहिए। योगी जब अपने दृढ़ संकल्प से इन चक्रों का अभ्यास करता है तो स्थूल सूक्ष्म वस्तु के ध्यान को छोड़कर अन्ततः इस अभ्यास पद्धति से कल्याणमय शिवस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

क्रमद्वादशकं–

इस शरीर में बारह चक्र हैं जो क्रमशः एक दूसरे से ऊपर स्थानों में स्थित हैं। क्रमद्वादशकं से यही अभिप्रेत है। ये बारह चक्र क्रमशः इस प्रकार हैं:–

जन्माग्र, मूल, कन्द, नाभि, हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र, शक्ति और व्यापिनी। इन बारह चक्रों में पहला चक्र जन्माग्र है। मेढ्र-कन्द को जन्माग्र कहते हैं। मेढ्रकन्द एक है और कन्द दूसरा है। मेढ्रकन्द तो पायु विकास है। मूलचक्र मेढ्र कन्द से ऊर्ध्वस्थित है 'कन्द' उससे भी ऊपर है जहां गर्भाशय में बालक का जन्म होता है। कन्द से ऊपर नाभि चक्र है, नाभिचक्र से ऊपर हृच्चक्र है, हृच्चक्र से ऊपर कण्ठदेश है, उससे ऊपर तालुचक्र (Palate) है, तालुचक्र से ऊपर भ्रूमध्य है, भ्रूमध्य से ऊपर ललाट (forehead) है, ललाट से ऊपर ब्रह्मरन्ध्र है, ब्रह्मरन्ध्र से ऊपर शक्ति है। शक्ति का तात्पर्य वह बल है जो ब्रह्मरन्ध्र को विभक्त कर उसमें भेदन करती हुई विश्वाकाश परिधि में बाहर गमन करती है। उसके पश्चात् उस विश्वाकाश में साधक प्रवेश करता है जो व्यापिनी का क्षेत्र है। ये बारह चक्र क्रमशः बारह स्वरों के वाचक हैं जो 'अ' से लेकर विसर्ग तक गिने

जाते हैं। स्वर यद्यपि सोलह हैं पर तन्त्रशास्त्र में ऋ, ॠ, ऌ, ॡ ये चार स्वर षण्ढ़ (नपुंसक) कहे गये हैं अतः इनका उपयोग ध्यान आदि में नहीं होता है। इन चार स्वरों को छोड़कर शेष बारह स्वर रहते हैं जिनका ध्यान उपरोक्त बारह चक्रों में क्रमशः अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः के रूप में करना चाहिए।

स्थूल सूक्ष्म परस्थित्या– बारह चक्रस्थानों में यह ध्यान स्थूल (Gross awareness), सूक्ष्म (medium awareness), पर (Supreme awareness) पद्धति से करना चाहिए।

स्थूल पद्धति का तात्पर्य ध्यान पद्धति है, सूक्ष्म पद्धति का तात्पर्य स्पन्दमानता है, और पर पद्धति "मुक्त्वा-मुक्त्वा" कहकर जतलाई गई है। अर्थात् इन बारह चक्रों की ध्यान पद्धति को पारकर साधक इनकी स्पन्दमानता को छूता है। उस स्पन्दमानता में सुसंस्थित होके, सूक्ष्म ध्यान को छोड़कर इन बारह चक्रों के ज्योतिर्मय परवस्तु के ध्यान में सुसंस्थित होता है। तत्पश्चात् स्वयं शिव बन जाता है। इस प्रकार यह आरोह क्रम है। इन बारह स्थानों को पहिले बारह स्वरों में बदलना चाहिए। क्योंकि ये स्थूलरूप हैं। उदाहरण के तौर पर पहला स्थान 'जन्माग्र' है। जन्माग्र के स्थूल रूप "पायुविकास' (Opening of rectum) है। इसके स्थूल रूप की ओर न जाकर 'अ' स्वर को ले लो। इस 'अ' स्वर का वहां कोई अर्थ नही अतः इसे सूक्ष्म रूप की ओर लेना पड़ेगा। जब आप इन बारह स्थानों की बारह सूक्ष्म गतियों की ओर कदम डालोगे तो आपने पहले ध्यान को ही अपनाना है, फिर स्पन्दमानता को और फिर ज्योतिरूपता को। यह एक प्रकार का लयचिन्तन है अर्थात् लय या लयीभाव की स्थिति है। क्योंकि इस चिन्तन में हमें पहिले को दूसरे में, दूसरे को तीसरे में क्रमशः इसी प्रकार बारह चक्रों का लयीभाव करके "अन्ततः शिवः" शिव भाव को पाना है।

यह क्रम 'आणवोपाय' की हेयोपासना है क्योंकि इसमें क्रम का उल्लंघन नहीं किया जा सकता है। आपने पहले जन्माग्र को देखना है और फिर उसके 'अ' मन्त्र की उपासना करनी है, फिर मूल का ध्यान करना है और फिर उसके "आ" मन्त्र की उपासना करनी है और इसी प्रकार क्रमानुसार आप विसर्ग की उपासना तक पहुँचकर 'व्यापिनी' का अनुभव करोगे। इसके पश्चात् इन सबों का ध्यान करके आपने इनकी स्पन्दमानता और फिर ज्योतिरूपता को अपनाना चाहिए।

स्पन्दमानता से तात्पर्य है गतिशीलता। इस स्थिति में साधक का सारा शरीर कम्पायमान सा प्रतीत होता है।

ध्यान से तात्पर्य श्वासोच्छ्वास से है। श्वासोच्छ्वास का सम्बन्ध स्थूल से है श्वासोच्छ्वास ही स्पन्दमानता का रूप लेता है। स्वामी जी कहते हैं, कि इस बात को हम केवल सतत अभ्यास से ही जान सकते हैं।

ज्योति से तात्पर्य स्वरूपसाक्षात्कार से है, जोकि चरम बिन्दु है।

स्वामी जी कहते हैं कि स्पन्दमानता स्वचालित विधि है यह प्रायः चित्तप्रलय है पर पूर्ण चित्त प्रलयीभाव स्थिति ज्योतिरूपता में ही है। चित्तप्रलय में श्वासप्रक्रिया समाप्त नहीं होती है पर वह एक बिन्दु पर ठहरी हुई होती है और शमन की प्रतीक्षा में निरोधिका स्थिति की तरह रहती है। ये श्वासोच्छ्वास, प्रदेशवआयाम को लांघे विना एकाग्रता की शक्ति के कारण, गतिशील दिखाई देते हैं। एकाग्रता के अभाव में इस का छत्तीस अंगुल तक संचार होगा। यह एकाग्रता धीरे धीरे विकसित होती है। एकाग्रता की शक्ति के परिणामस्वरूप श्वासोच्छ्वास सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता जाता है और अन्त में फिर एक बिन्दु पर ही गतिशील रहता है। उसी को स्पन्दमानता कहते हैं। उसके पश्चात् ज्योतिरूपता और फिर शिवभावता प्राप्त होती है। ज्योतिरूपता की पूर्ण परिपक्वता के अभाव में सदाशिवभाव की दशा आती है। शिवभाव तो देहपात के पश्चात् ही संभव होता है।

स्वामी जी महाराज अपने अनुभव के आधार पर कहते हैं कि यह आवश्यक नहीं कि कुण्डलिनी जागृति के पश्चात् ही स्वरूपसमावेश हो सकता है। अपितु कुण्डलिनी जागृति के विना भी स्वरूप समावेश संभव है॥

(क्रमशः)

श्री गुरुवर्य का उपदेशामृत

सुश्री प्रभादेवी जी

ईस्वी सन् १९७१ में गुरुप्रवर श्री ईश्वरस्वरूप जी महाराज हमें तन्त्रालोक का पांचवां आह्निक, जो आणवोपाय से सम्बन्धित है, सामुदायिक रूप से गुप्त-गंगा के सत्संग हाल में, आनन्द में विभोर होकर पढ़ाते थे। सभी श्रोतागण शिष्य, तन्मय होकर सुनते तो अवश्य थे किन्तु विषय के गंभीर होने से उनके मस्तिष्क-पटल पर ये अमृतमय उपदेश जमते न थे। महाराज जी सर्वज्ञ तो थे ही, अपने शिष्यों की बाह्य रंग में रंगी हुई बुद्धि से भी परिचित थे, किंतु दया के वशीभूत बनकर, ये सभी समझते हुए भी 'स्वान्तः सुखाय' को लक्ष्य में रखकर ही कई वर्षों तक अपनी ज्ञान-गंगा को बहाते ही रहे। उसी ज्ञान-गंगा के कतिपय अमृत बिन्दुओं का पान कराना इस लेख के लिखने का उद्देश्य है। जो कुछ ज्ञान है सभी गुरुवर्य का ही है। हम तो महाराज जी के अलौकिक पारमार्थिक सजगता का स्मरण करते हुए ही काल-यापन कर रहे हैं। तो फिर लीजिये आज तन्त्रालोक के पांचवें आह्निक के ७४ वें श्लोक से लेकर आगे का प्रसंग छेड़ते हैं:—

हानादानतिरस्कार
वृत्तौ रूढिमुपागतः।
अभेदवृत्तितः पश्ये-
द्विश्वं चितिचमत्कृतेः।। ७४।।

अनथक रूप से पारमार्थिक सजगता तथा चमत्कार-आनन्द से जगत् को अभेदवृत्ति से देखता हुआ, त्याग तथा गृहणीय वृत्ति का तिरस्कार करके, अपने स्वरूप में यह योगी रूढ बन जाता है - यानी स्वात्मा में टिक जाता है। यही इसके स्वात्म-साक्षात्कार का मुख्य चिह्न है।

अर्थक्रियार्थितादैन्यं
त्यक्त्वा बाह्यान्तरात्मनि।
स्वरूपे निर्वृत्तिं प्राप्य
फुल्लां नाददशां श्रयेत्।। ७५।।

इस श्लोक का निर्णय करते हुए महाराज जी ने कहा—विकास दो प्रकार का है—एक तो स्वरूप-विकास जिसे 'सौः' बीज, अहम् परामर्श, सृष्टि, हृदय आदि कहते हैं और दूसरा

'स्वरूपच्यवन' जिसे संहार हृदय, महअ, रक्ष्खें तथा संहार बीज या कुंडलिनी भी कहते हैं।

इस श्लोक में 'नाद्रदशा' शब्द पर प्रकाश डालते हुए कहा–

"अनाहतहतोत्तीर्णो महाविषमचिद्गतिः।

वीरहृद्धटनोद्युक्तो रावो देव्या विजृम्भते॥

अनाहत तथा आहत दो प्रकार के शब्द माने जाते हैं। 'आहत' शब्द तो दो वस्तुओं के परस्पर टकराने से उत्पन्न होता है और अनाहत शब्द, प्रवर साधक के हृदय में बिना किसी के हत होने से प्रभु-कृपा से स्वयं शब्दायमान होता है। इसी में दश नादों का सम्मिलन है। उन्हीं दश नादों को त्याग कर जो पार्यन्तिक नाददशा उत्पन्न होती है, वही संहार-कुण्डलिनी 'क्षकार' के नाम से पुकारी जाती हैं, इसी अवस्था को प्राप्त करके योगी अर्थ-क्रिया रूप दीनता यानी स्वरूप-विकास करने के हेतु जिन बाह्य-विषयों का आश्रय लेता था, उस को छोड़ कर बाह्य रूप जो त्रिकमतानुसार अपनी ही अन्तरात्मा है, उसी में आत्यन्तिक सुख को प्राप्त करता है।

प्रसंगवश महाराज जी ने यह समझाते हुए कहा–स्वरूप में प्रविष्ट होने के समय साधक को 'बीजोद्धार' का अनुभव होता है और स्वरूप में स्थित होने के बाद 'बीजोदय' का अनुभव होता है।

वक्त्रमन्तस्तया सम्यक्

संविदः प्रविकासयेत्।

संविदक्षमरुच्चक्रं

ज्ञेयाभिन्नं ततो भवेत्॥ ७६॥

इस श्लोक का अन्वय और अर्थ ऐसे किया–संविदः अन्तः वक्त्रं सम्यक्तया प्रविकासयेत् ततो संविद, अक्ष, मरुद् चक्रं ज्ञेय अभिन्नं भवेत्॥

संविद् देवी का आन्तरिक वक्त्र उस नाद दशा से भली-भांति विकास के योग्य बनकर, तब फिर ज्ञान-चक्र-जागतिक नीलादि वस्तु-वर्ग, इन्द्रिय-चक्र और प्राणादिक पांच चक्र (प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान) ज्ञेय अर्थात् शून्यातिशून्य विश्वाभाव रूप में अभिन्न होकर ठहरता है। इन कथित चक्रों का अस्तित्व इस अवस्था में जाकर समाप्त हो जाता है।

इस श्लोक की व्याख्या करने के उपरान्त महाराज जी ने कहा–कश्मीर में एक प्रसिद्ध शैवी सन्त हुए थे, उनका शुभ नाम 'मान जी गंजू' था। वह हुक्के की नली को मुंह में रखने

मात्र से ही स्वरूप में प्रविष्ट हो जाते थे। विषयों का सेवन प्रारम्भ करते ही स्वरूप में स्थित होना सिद्धों का विषय है।

तज्ज्ञेयं संविदाख्येन
वह्निना प्रविलीयते।
विलीनं तत् त्रिकोणेऽस्मि-
ञ्शक्तिवह्नौ विलीयते॥ ७७॥

वह शून्यातिशून्य ज्ञेय, संविद नाम वाले अग्नि में पूर्णरूप से लीन हो जाता है और वह शून्य दशा इस त्रिकोण (इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया) नामक शक्ति-अग्नि में लय हो जाती है।

इस श्लोक में रहस्य रूप से 'रक्ष्खें' मन्त्र का प्रदर्शन हुआ है।

तत्र संवेदनोदार
बिन्दुसत्तासुनिर्वृत्तः।
संहारबीजविश्रान्तो
योगी परमयो भवेत्॥ ७८॥

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए महाराज जी ने कहा—

यदि साधक ने तथ्य रूप से आत्यन्तिक विश्राम लेना हो तो इसी संहार-बीज 'अं' रूप बिन्दु में ही लेना चाहिये। संहार बीज मन्त्र जिसे पिंडनाथ भी कहते हैं (र्क्ष्ख) बीजाक्षर है।

इस श्लोक पर पुनः प्रकाश डालते हुए महाराज जी ने गम्भीर होकर कहा—

इसी बिन्दुसत्ता में ठहर कर महा-गणपति ने क्षीर-सागर पिया था। पौराणिक गाथा में भी किसी विशेष ऋषि ने भगवान् शंकर की जटाओं में स्थित गंगा जी के प्रवाह को निघल लिया था। स्वयं भगवान् शंकर भी उसकी महान् शक्ति को देखकर मोहित हो गये थे।

प्रसंगवश महाराज जी ने यह भी कहा—याज्ञवल्क ऋषि को भला क्या आवश्यकता पड़ी थी सन्यास लेने की—केवल इसलिए कि वह जीवन्मुक्ति के सुख का अनुभव करे।

अतः साधक को चाहिये कि वह सदा अनुसन्धान परायण रहे तभी वह इन अलौकिक अवस्थाओं का अनुभव कर सकेगा।

स्मरण रहे मालिनी पत्रिका का प्रकाशन केवल इस उद्देश्य से हो रहा है कि पूज्य श्री गुरुवर्यों के मुखारविन्द से जिन उपदेशों का स्फार हुआ है उनकी प्रत्यभिज्ञा करायी जाये। इधर उधर की सुनी सुनाई बातों का उल्लेख करना तो बहिर्मुखता का परिचायक है। हमारे गुरुप्रवर सदा विमर्शपरायण ही रहते थे अतः हमें भी चाहिये महाराज जी के उपदेशामृत का ही बखान करते रहें। उसी में हम सभी मानवों का कल्याण निहित है।

ओं शम्।

You must know the state of supreme independent God-consiciousness exists in the same way as shadow of your head. Cross it or overcome it by your footsteps you never cross that shadow. In the same way supreme state of God consciousness can not be realized by any agency which is filled with individual God consciousness. So it cannot be realized by any agency. It never comes in objective state. It is never realized it is the state of realizer.

Īśvara Svarūpa Svāmi Lakṣmaṇa Joo Māharāj

गुरुरेको जयत्यजः

(गुरु एक है। उसके अजन्मा स्वरूप की जय हो)

विश्वोत्तीर्णो व्यवहितपथः विश्वकृत् विश्वहर्ता
विश्वं व्याप्य सकलमकलं व्यस्तभूतोऽतिव्यस्तः।
व्यावृत्यर्थं विचलति मुदं विश्वपूर्णो हि स्वस्थः
व्यक्ताव्यक्तो विजयति विभुः मन्त्रमूर्तिर्महेशः॥

विश्वोत्तीर्णः– परम शिव संसारभाव से सदा असंग है। अतः उसे विश्वोत्तीर्ण कहते हैं। वह उसका नित्य, शुद्ध, निरञ्जन, निर्विकार तथा स्वयंप्रज्ञस्वरूप है।

व्यवहितपथः– जब वह अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति द्वारा विश्व में भेदभावरूप विस्तार पाता है तो वह

विश्वकृत् विश्वहर्ता– विश्व का स्रष्टा और संहर्ता बनता है।

सकलं विश्वं व्याप्य व्यस्तः– वह स्थूलभूत विश्व में व्याप्त होकर इसमें व्यस्त (मिलकर) रहता है, और

अकलं (विश्वं व्याप्य) अतिव्यस्तः– सूक्ष्मभूत विश्व में व्याप्त होकर इतना व्यस्त रहता है कि उसका वास्तविक रूप समझ से बाहिर होता है। (यह उसकी माया की विलक्षणता है)।

व्यावृत्यर्थं– फिर भी अपने चिदानन्द स्वरूप को छिपाये रखते हुए

मुदं विचलति– वह अपने अपने मौज में व्यवहार-रूप स्पन्दन को धारण कर जगत्-रूप क्रीडा करता है।

विश्वपूर्णो हि स्वस्थः– परन्तु निर्लेप होने के कारण विश्व में पूर्ण होते हुए भी अपने ही चिदानन्द स्वरूप में स्थित (अर्थात् स्वस्थ) रहता है।

व्यक्ताव्यक्तो विभुः– इस प्रकार वह सर्वव्यापक परमात्मा अभक्तों के लिए अप्रकट होकर भी भक्तियोग द्वारा प्राप्त किया जाता है।

मन्त्रमूर्तिः महेशः— वही मन्त्रमूर्ति महेश्वर शिव अर्थात् अनुग्राहिका शक्तिरूप गुरु भगवान् सदाशिव

विजयति— सदा विजयशील है।

इति कमलेति कौलो जानकीनाथः॥

भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० शंकर दयाल शर्मा द्वारा संस्कृत भाषा पारंगत सम्मान से सम्मानित कविवर विद्वान् श्री जानकी नाथ कौल 'कमल' ने साहित्यिक जगत में अन्यतम स्थान प्राप्त किया था। ९/६/१९९७ को नई दिल्ली में माननीय राष्ट्रपति से सम्मानित होने के पश्चात् उनके मुखारविन्द से उद्‌भूत ऊपर लिखित श्लोक सदा के लिए ग्राह्य रहेगा। आश्चर्य की बात है कि उसी दिन उन्होंने यह उज्ज्वलमणि सन्तप्रवर श्री रघुनाथ जी कुकिलू को भी इस सूक्ति के साथ जम्मू भेजा था- "पण्डितवर्याय महाशयाय सादर नमस्कार सन्ततयः प्रेषामीति" कौलो जानकी नाथः।

स्मरण रहे कि श्री रघुनाथ जी कुकिलू ने जीवित अवस्था में ही ऊपरोक्त शीर्षक सहित; यह श्लोक मुझे मालिनी में प्रकाशित करने के लिए दिया था। आज के अंक में इसे प्रकाशित करके उनके वचन का पालन करके मुझे अति प्रसन्नता हो रही है।

ॐ नमः शिवाय

शैवदर्शन के वातायन से

प्रो० नीलकंठ गुरुटू

भूत सर्ग –

यह शब्द भौतिक सृष्टि का वाचक है। भौतिक सृष्टि चौदह प्रकार की मानी जाती है। विभाग इस प्रकार है-

(क) आठ प्रकार की देव-सृष्टि में गन्धर्व, शक्र पिशाच, राक्षस, यक्ष, सौम्य, प्रजेश और ब्राह्म-ये आठ योनियां अन्तर्भूत हैं,

(ख) पांच प्रकार की तिर्यक्-सृष्टि (पशु-सृष्टि)। इस सृष्टि में पालतू पशु, जंगली मृग आदि, आकाश में उडने वाले पक्षी, रींगने वाले सर्प इत्यादि, और सारे वृक्ष इत्यादि स्थावर ये पांच सृष्टि भेद अन्तर्भूत हैं।

(ग) एक प्रकार की मानव सृष्टि।

फलतः देव सृष्टि के आठ, तिर्यक्सृष्टि के पांच और मानव-सृष्टि का एक भेद कुल मिलाकर चौदह प्रकार की सृष्टि भूतसर्ग कहलाती है।

अर्थक्रिया –

जडभूत अर्थात् जड प्रमेय-पदार्थ निरंतर पल-पल पर जीवित भूतों अर्थात् चेतन प्रमाताओं की आवश्यकताओं को पूरा करते रहते हैं। फलतः जो कोई भी प्रमेय पदार्थ जिस प्रकार की क्रियात्मकता को संपन्न कर लेता है वही उसकी अर्थक्रिया कहलाती है। उदाहरणार्थ घड़ा तरल द्रव्य को रखने या वहन करने की आवश्यकता को पूरा कर लेता है अतः जलाहरण ही घट प्रमेय की अर्थक्रिया कहलाती है।

द्रष्टा –

ऐसा चेतन प्रमाता जो स्वतः संवित्स्वभाव, स्वयं-प्रकाश एवं स्वयं सिद्ध होने के कारण भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान इन कालभेदों के साथ संबन्धित अखंड जानकारी को शाश्वतिक रूप में धारण करने वाला हो। इस दृष्टि से सर्वव्यापी चित्-तत्त्व ही वास्तविक द्रष्टा कहलाता है। अब चूंकि विश्वभर के सारे जीवों में इसी चित्-तत्त्व की अंशतः वर्तमानता होती है अतः

वे भी परिमित रूप में दृष्टा (अर्थात् संकुचित प्रमाता) कहे जाते हैं। दृक् हरेक प्रकार की (ज्ञातृता) जानकारी को दृक् (दर्शन अर्थात् ज्ञान) कहते हैं।

अवभास –

बुद्धिरूपी दर्पण में किसी भी प्रमेय पदार्थ के स्पष्ट प्रतिबिंबन को अवभास कहते हैं। इसी को उस पदार्थ की जानकारी प्राप्त करना या उपलब्धि होना भी कहा जाता है।

स्मृतिः –

किसी भी पदार्थ के सब से पहले के साक्षात्कार-क्षण की उपलब्धि (विकल्पहीन ज्ञान) को प्राथमिक अनुभव (प्रथमाभास) कहते हैं। यह अनुभवक्षण बीत जाने के उपरान्त वही पदार्थ बुद्धि में जिस रूप में वर्तमान रहता है उसको उसी पदार्थ की स्मृति कहा जाता है। स्मरण रहे सारा बहिरंग सांसारिक व्यवहार स्मृति से ही चलता रहता है।

क्षण वाद –

बौद्ध दार्शनिकों की मान्यता को क्षणवाद कहते हैं। उनकी मान्यता के अनुसार संसार का कोई भी जड एवं चेतन पदार्थ त्रिक्षणवृत्ति होता है। अर्थात् उसका रूप हर तीन क्षणों के पश्चात् बदलता रहता है। तात्पर्य यह कि पहले क्षण में उसकी सृष्टि, दूसरे में उसकी स्थिति और तीसरे में उसका नाश होता है। इन तीन क्षणों में बुद्धि पर लगे हुए संस्कार के बल से चौथे क्षण में फिर उसकी पहले के ही रूप वाली सृष्टि इत्यादि प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। इसी प्रकार इस अखंड रूप में चलती रहने वाली त्रिक्षण पर्यवसायिनी ज्ञान-धारा को ज्ञान-संतान कहते हैं। उनकी मान्यता के अनुसार सारा जीव व्यवहार इसी ज्ञान संतान की पृष्ट भूमि पर चलता रहता है।

दृक् रूप –

विशुद्ध ज्ञान के स्वरूप वाला (आत्मा)। आत्मा का दृक् (ज्ञानरूपता) के अतिरिक्त और कोई आकार-प्रकार या नामरूप नहीं होता है।

विश्वरूपता –

भगवान शिव विश्वरूप हैं। इसका तात्पर्य यह है कि विश्वभर में जैसे जैसे और जितने प्रकार के नाम-रूप वाले जडभाव या चेतन पदार्थ हैं वे सारे भगवान शिव के स्वभाव मात्र हैं। वे स्वरूप से भिन्न या अतिरिक्त नहीं हैं। विश्वरूपता सर्वभावस्वभावकता होती है। केवल आदिदेव ही सर्वभाव स्वभाव हैं।

माहेश्वर्य –

महान ईश्वर का भाव-ईश्वरता। ज्ञानशक्ति, स्मृति शक्ति और अपोहन शक्ति इन तीनों महान् शक्तियों पर स्वतन्त्र एवं निर्बाध अधिकारिताको माहेश्वर्य कहते हैं। महेश्वर सदा चित्-रूप अर्थात् जडता से विलक्षण, अहंरूप और परिपूर्ण दृष्टा भाव पर अटल रहने वाला तत्त्व है

नियतपूर्वापरता –

संसार की भूमिका पर कई पदार्थों की निश्चित पूर्वता (पीछे होना) का बंधा-बंधाया क्रम आवश्यक होता है- उदाहरणार्थ कारण और कार्य में कारण अवश्य अगाडी और कार्य अवश्य पिछाडी होता है। इसको नियत पूर्वापरता कहते हैं। शिव-भूमिका पर इस पूर्वापरता का कोई क्रम नहीं होता है।

अन्वय –

किसी एक पदार्थ के सद्-भाव से किसी दूसरे पदार्थ की वर्तमानता सिद्ध करने को अन्वय कहते हैं। उदाहरणार्थ - आकाश में बादलों की वर्तमानता होने पर ही वर्षा का आगमन हो सकता है - तत् सत्त्वे, तत् सत्त्वम् अन्वयः।

व्यतिरेक -

किसी एक पदार्थ का अभाव होने पर किसी दूसरे पदार्थ का भी अभाव होने को व्यतिरेक कहते हैं। उदाहरणार्थ - अग्नि के अभाव में ऊष्मा का भी अभाव निश्चित होता है - तद् अभावे, तद् अभावो व्यतिरेकः।

चयरूपता -

किसी पदार्थ के महान् विस्तार को चयरूपता कहते हैं। उदाहरणार्थ - आग के बडे ढ़ेर को अग्निचय कहा जाता है।

कणरूपता -

किसी पदार्थ के छोटे से छोटे विस्तार को कणरूपता कहते हैं।

संबोध -

विषयों के उपराग से रहित विशुद्ध ज्ञान अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान को संबोध कहते हैं।

ISHWAR ASHRAM TRUST

ISHBER, NISHAT, SRINAGAR, KMR.

(FOUNDED BY SRI ISHWAR SWAROOP SWAMI LAKSHMAN JOO MAHARAJ)

ADMINISTRATIVE OFFICE

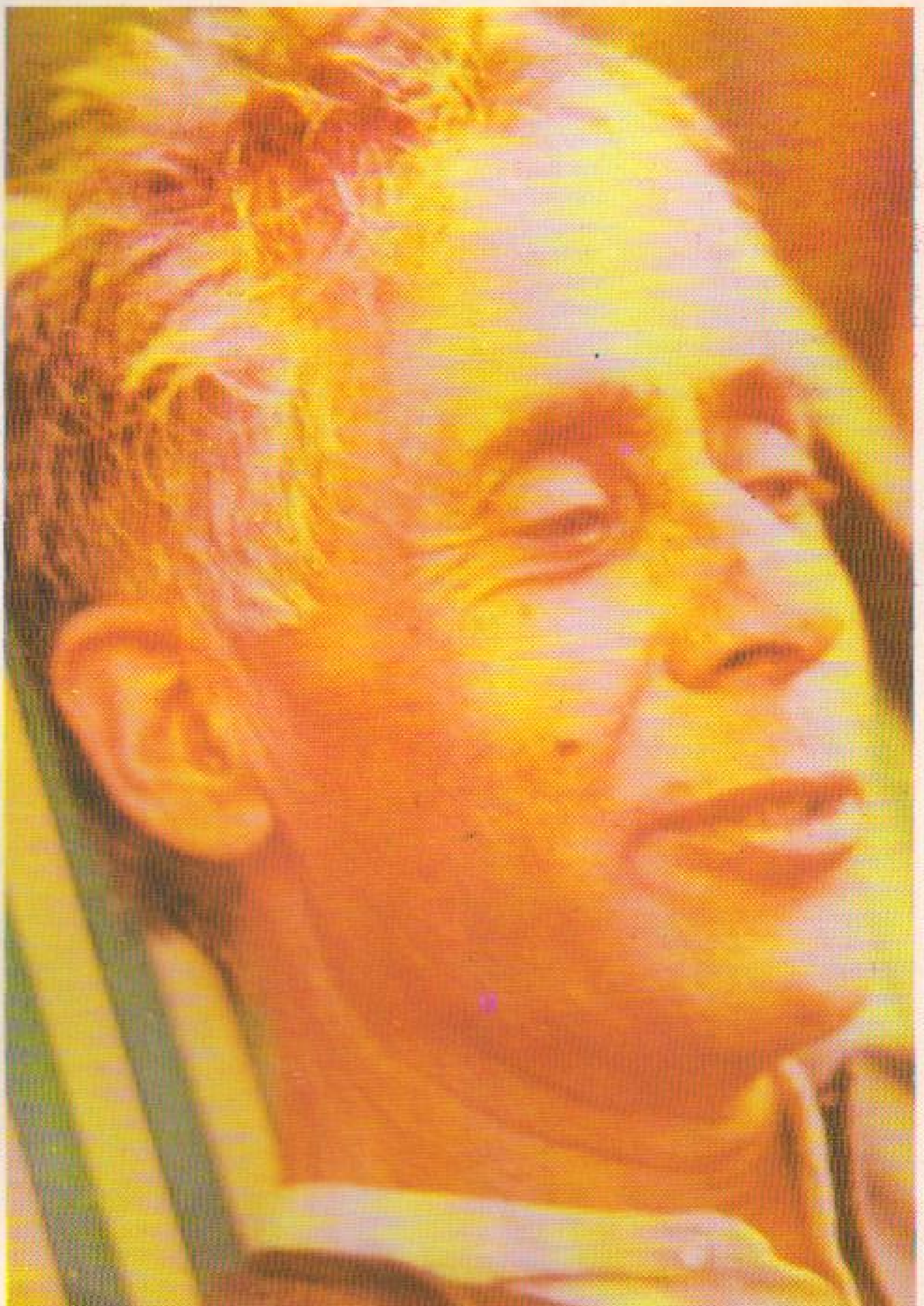
2, Mohinder Nagar, Canal Road, JAMMU (Tawi) Pin-180016-Tele: 555755

CALENDER OF FESTIVALS 1998-1999 (From July '98 onwards)

1.	Jul 09, 1998	Thursday	Guru Purnima (Ashad Purinma)	
2.	Aug 08, 1998	Saturday	Shravana Purnima	Raksābandhan Ceremony
3.	Aug 14, 1998	Friday	Janam Ashtami	
4.	Sept 07, 1998	Monday	Pitra Paksh Jag (Yajña) of	Swami Mahtab Kak Ji Maharaj
5.	Sept 08, 1998	Thursday	Pitra Paksh Jag (Yajña) of	Sushri Sharika Devi Ji
6.	Sept 09, 1998	Wednesday	Vārshik Nirvān Jayanti -Jag (Yajña) of	Ishwar Swaroop Swami Ji Maharaj
7.	Sept 19, 1998	Saturday	Pitra Paksh Jag(Yajña) of	Swami Ram Ji Maharaj
8.	Oct 24, 1998	Saturday	Janamdivas Jayanti of	Swami Mehtab Kak Ji
9.	Nov 21, 1998	Saturday	Janamdivas Jayanti of	Sushri Sharika Devi Ji
10.	Dec 15, 1998	Tuesday	Janamdivas Jayanti of	Swami Ram Ji Maharaj
11.	Jan. 16, 1999	Saturday	Varshik Jag (Yajña) pf	Swami Ram Ji Maharaj
12.	Feb 03, 1999	Wednesday	Varshik Jag (Yajña) of	Sushri Sharika Devi Ji
13.	Feb 13, 1999	Saturday	Maha Shiv Ratri	
14.	Feb 17, 1999	Wednesday	Varshik Jag (Yajña) of	Swami Mahtab Kak Ji

I.K. RAINA
Secretary (I.A. Trust)

श्री ईश्वरस्वरूप लक्ष्मण जू महाराज



आविर्भावदिवस
9-5-1907

महासमाधिदिवस
27-9-1991